खण्ड 4
संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण

खण्ड 4 परिचय

संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण नामक चौथे खण्ड का अध्ययन करते समय आपको इस खण्ड की पॉच इकाइयों का अध्ययन करना है। इनमें काव्यशास्त्र के आचार्यो और विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन प्रस्तुत है। इकाइयॉ इस प्रकार हैं–

इकाई 22 – संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य– भाग1 : (भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन रूद्रट, उद्‌भट)

इकाई 23 – संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य– भाग 2ः (आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र,मम्मट,विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ)

इकाई 24 – रस–सम्प्रदाय और अलंकार–सम्प्रदाय

इकाई 25 – रीति–सम्प्रदाय ओर वक्रोक्ति–सम्प्रदाय

इकाई 26 – ध्वनि–सम्प्रदाय और औचित्य– सम्प्रदाय

चौथे खण्ड में सम्पूर्ण वर्णन का औचित्य आपको काव्यशास्त्र की ऐतिहासिकता जानकारी से अवगत कराना है। संस्कृत काव्यशास्त्र जिन आचार्यो का शोध है उन्हीं का परिचय आप प्रारम्भिक दो इकाइयों में प्राप्त करेगें। वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक आचार्य हैं, आप के अध्ययन के लिए इस खण्ड में प्रमुख आचार्यो का ही वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अंतिम तीन इकाइयॉ सम्प्रदायों के वर्णन से सम्बन्धित हैं जिनमें आप रस, अलंकार,रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का अध्ययन करेगें।

इकाई 22 संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्य भाग–1 (भरतमुनि, भामह ,दण्डी, वामन, रूद्रट, उद्‌भट)

इकाई की रुपरेखा

22.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह 22 वीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र की आवश्यकता क्यों पड़ी?' संस्कृत काव्यशास्त्र समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है। संस्कृत काव्यशास्त्र समाज का बनाकर प्राचीन कथाओं, वंशावलियों, इतिहास–भूगोल के तथ्यों एवं सामान्यतः ज्ञान–समाज के सभी विषयों को संस्कृत काव्यशास्त्र में समाविष्ट कर दिया गया। जिस प्रकार महाभारत की प्रसिद्धि प्राचीन काल से चला आ रहा है उसी प्रकार ' संस्कृत काव्यशास्त्र भी प्रसिद्धि चली आ रही है। संस्कृत काव्यशास्त्र का सामाजिक धार्मिक ऐतिहासिक, शैक्षणिक, नैतिक आदि दृष्टियों से इतना महत्त्व है जितना किसी साहित्य–प्रकार का नहीं हो सकता। संस्कृत काव्यशास्त्र में सामाजिक सांस्कृतिक आदि इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

22.2 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भरतमुनि के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे
- भामह के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे
- दण्डी के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे
- वामन के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे
- रूद्रट के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे

22.3 संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य भाग –1 (भरतमुनि, भामह ,दण्डी, वामन, रूद्रट ,उद्भट)

भरतमुनि

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें पाठान्तर इतने हो गये हैं कि विभिन्न स्थानों से प्रकाशित संस्करणों में पद्यों की संख्या तथा अध्यायों में भी भेद है। डॉ. मनमोहन घोष ने अपनी विस्तृत भूमिका सहित सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसाइटि, कलकत्ता से 1950 ई. में प्रकाशित कराया। नाट्यशास्त्र पर इधर शोधकार्य भी प्राप्त हुए हैं। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित का ग्रन्थ 'भरत और भारतीय नाट्यकला' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) इस दिशा में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरतमुनि को काल्पनिक या वास्तविक माना जाये– इस विषय में भी विवाद चले हैं किन्तु संस्कृत नाट्य–परम्परा में भरत एक आदरणीय आचार्य थे जिनके नाम पर भरत–वाक्य का प्रयोग प्रत्येक नाटक में हुआ है।

'नाट्यशास्त्र' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें नाट्य और काव्य से सम्बद्ध नियमों का विस्तृत विवेचन है। इसके चौखम्बा संस्करण (सं. –बटुक नाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय) में 36 अध्याय हैं, जबकि काव्यमाला संस्करण में 37 अध्याय हैं। अभिनवगुप्त इसमें 36 अध्याय ही मानते हैं पद्यों की संख्या 5000से अधिक है जो मुख्यतः अनुष्टुप छन्द में हैं। गद्यभाग भी इसमें बहुत है। वर्तमान काल में उपलब्ध नाट्यशास्त्र विकास के विभिन्न लक्षणों से युक्त है अर्थात् इसमें समय–समय पर संवर्धन और संशोधन होता रहा था। इसका रचनाकाल इसीलिए विवादास्पद है। 100 ई. पू. से लेकर 300 ई. तक के काल में इसे वर्तमान रूप मिला होगा– ऐसा बहुमत है। इसकी विषयवस्तु व्यापक है– नाट्य की उत्पत्ति, प्रेक्षाग्रह की प्रस्तुति, रूपक के अभिनय की प्रस्तुति, पूर्वरङ्ग, संगीत, रस–विवेचन, अभिनय के भेद (अष्टम अध्याय), चारी–विधान, मण्डल, गति, प्रवृत्तियों का विवेचन, वाचिक अभिनय के अन्तर्गत भाषाओं तथा छन्दों पर विचार (अध्याय 15 तथा 16) काव्य–विवेचन (17), पात्रों के लिए भाषा–विधान (18), रूपक–भेद (20), कथानक–रचना, वेश–भूषा, स्त्री–पात्रों पर विचार, चित्राभिनय, वाद्य, ताल, लय, पात्र (प्रकृति) भेद तथा नाट्यशास्त्र का महत्व– ये बहुविध विषय इसमें प्रतिपादित हैं।

नाट्यशास्त्र पर कालान्तर में अनेक टीकाएँ लिखी गयी थीं जिनमें केवल अभिनवगुप्त–रचित 'अभिनवभारती' छिन्न विच्छन्न रूप में उपलब्ध (तथा प्रकाशित) है। इसमें अन्य तीन पूर्ववर्ती टीकाकारों (भट्टोद्भट, शंकुक तथा भट्टनायक) के रस–निष्पत्ति–विषयक सिद्धान्त दिये गये हैं। अभिनवगुप्त ने अपने रस–सिद्धान्त की भी स्थापना की जो अनुवर्ती विद्वानों के द्वारा स्वीकृत है।

अग्निपुराण अनेक विषयों से सम्पूर्ण पुराण है जिसके ग्यारह अध्यायों में (337–47) काव्यशास्त्रीय सामग्री है। इस पुराण के रचनाकाल पर काव्यशास्त्र के विद्वानों में मत भेद है। कुछ लोग इसे पाँचवीं शताब्दी ई. में रखने के पक्षधर हैं तो कुछ इसका काल 12 वीं शताब्दी ई. तक ले आने की अनुशंसा करते हैं क्योंकि भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और भोज तक के सिद्धान्त इसमें हैं। इनमें किसी ने इस पुराण का उद्धरण नहीं दिया है। वस्तुतः पुराणों का जब–जब कोई हस्तलेख बनता था तब–तब उसमें जोड़–घटाव होता रहता था। इसलिए पूरे पुराण को बाद में सिद्ध करना ठीक नहीं। इसके साहित्यिक अंश में काव्यभेद, नाट्य–विचार, रस, रीति, वृत्ति, अभिनय के

चार अङ्, अलंकार तथा दोष का विवेचन है। इसी विवेचन पर भामह आदि के सिद्धान्त आश्रित हैं

भामह

भामह का स्थान भरत के अनन्तर प्रथम आचार्य के रूप में समादृत है। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना करके 'अलङ्कार–प्रस्थान' का प्रवर्तन किया था। यह ग्रन्थ शुद्ध काव्यशास्त्रीय है (क्योंकि नाट्यशास्त्र तो मुख्यतः दृश्यकाव्य–विषयक है)। काव्य का प्रथम लक्षण भामह ने ही दिया। इन्होंने 38 अलंकारों का विवेचन किया। भामह कश्मीर के निवासी थे। इनका समय 550 ई. के आसपास माना गया है। 'काव्यालंकार' में परिच्छेद हैं जिनमें पाँच विषयों का विवेचन है – काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्याय तथा शब्दशुद्धि। पूरे ग्रन्थ में 400 श्लोंक हैं। इस ग्रन्थ पर उद्भट ने 'भामहविवरण' नामक टीका लिखी थी जो खण्डित रूप से उपलब्ध हुई है।

दण्डी

संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सरल–प्राञ्जल–भावपूर्ण गद्य के लेखक के रूप में दण्डी का नाम अमरण है। दण्डी के विषय में अनेक प्रशस्तियाँ सुभाषितों के संग्रह–ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। एक प्रशस्ति में वाल्मीकी और व्यास के बाद तीसरा स्थान दण्डी को ही दिया गया है–

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवि इतो ततो व्यासे कवयस्तवयि दण्डिनी।।

अर्थात् वाल्मीकी के आने पर 'कविः' यह शब्द बना, व्यास के आने पर द्विवचन में 'कवि' रूप हुआ और दण्डी का आविर्भाव होने पर ही बहुवचन रूप 'कवयः' हो सका। ऐसे महान् कवि के कृतित्व तथा रचनाओं के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।

दण्डी का काल

दण्डी के काल के विषय में विद्वानों का एक दल छठी शताब्दी ई० के आसपास रखता है। दोनों दल अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाणों को इस विषय में सामने रखते हैं। अन्तरङ्ग प्रमाणों के अन्तर्गत उनकी तीन रचनाओं (दशकुमारचरित, काव्यादर्श तथा अवन्तिसुन्दरीकथा) की सहायता ली जाती है। बहिरङ्ग प्रमाणों में दण्डी के विषय में अन्य कवियों की चर्चाएँ मुख्य आधार हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ्स में कुछ विद्वानों ने दशकुमारचरित में निर्दिष्ट समाज और भूगोल का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि हर्षवर्धन के पूर्व गुप्त–साम्राज्य के ह्रासोन्मुखकाल का समाज दण्डी ने देखा था जिसका चित्रण उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया। अतः उनका समय छठी शताब्दी ई० के मध्य (550 ई० के आसपास) होना चाहिए। शैली के आधार पर भी दण्डी को सुबन्धु और बाण से पूर्व रखने के प्रयास से प्राप्त हुए हैं। बाण का काल प्रायः निश्चित है कि वे हर्षवर्धन (राज्यकाल 606–48 ई०) के समकालिक थे। बाण के परवर्ती सभी लेखकों पर उनकी शैली का प्रभाव है। दण्डी पर यह प्रभाव नहीं है, अतः दण्डी बाण के पूर्व थे। कॉलिन्स ने अपने ग्रन्थ में संकेत दिया है कि दशकुमारचरित में उपलब्ध भौगोलिक एवं राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व का ही उपपादक है, अतः दण्डी का काल 600 ई० के पूर्व ही होना चाहिए। एम्० आर० काले का भी यही मत है।

दण्डी के काल पर, नये तथ्यों की प्राप्ति से, बहुत प्रकाश पड़ा है। 1924 ई० में दण्डी की तृतीय कृति 'अवन्तिसुन्दरी' कथा की प्राप्ति हुई। दशकुमारचरित से इसकी शैली का अन्तर है किन्तु कथानक में अद्भुत साम्य हैं। विद्वानों का कहना है कि दण्डी ने युवावस्था में सरल शैली में 'दशकुमारचरित' लिखा था और प्रौढ़ावस्था में आकर उसी कथानक पर परिमार्जित अलंकृत शैली में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की रचना की होगी। कई विद्वानों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को सर्वथा अप्रमाणिक ही कहा है किन्तु अनेक विद्वान् इसे प्रामाणिक मानकर दण्डी के काल और वंश का निर्णय करते हैं। इस 'कथा' का सार भी पद्यरूप में प्रकाशित है जिसमें दण्डी के वंश का भी वर्णन है। इस कथा में दण्डी के द्वारा बाण और मयूर की प्रशंसा किये जाने का निर्देश है। इसमें दण्डी को भारवी (या उनके मित्र दामोदर) का प्रपोत्र एवं काञ्जीनरेश नरसिंहवर्मा (प्रथम) का समकालिक कहा गया है। इसके आधार पर नये विद्वान् दण्डी को 700 ई० के निकट मानने के पक्षधर हैं।

'काव्यादर्श' के आधार पर भी दो तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं–राजा सेन–कृत (846 ई०–866 ई०) सिंहलीभाषा में रचित 'सिय–बस–लकर' (स्वभाषालंकार) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तथा अमोघवर्ष–रचित (815 ई०) कन्नड़ भाषा का अलंकार–ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' ये दोनों 'काव्यदर्श' को ही आदर्श बनाकर लिखे गये है। इससे उपर्युक्त 700 ई० वाले मत का विरोध नहीं है।

पीटरसन तथा याकोबी ने प्राण–कृत 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश में आये हुए एक गद्यांश **(केवलं चनिसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्)** की तुलना 'काव्यादर्श' के निम्नलिखीत पद से करते हुए दण्डी को बाण का परवर्ती सिद्ध किया गया है–

अर्थालोकसंहार्यमवार्य सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।।

डॉ० बेलवलकार ने भी काव्यादर्श–विषयक अपने ग्रन्थ में दण्डी को सातवी. शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वीकार किया है।

इस प्रकार दण्डी का काल 550 ई० से 600 ई० के बीच और 700 ई० के निकट माननेवाले विद्वानों के दो दल हैं। इस विषम स्थिती में उनकी तीन रचनाओं के आधार पर उनके समय की पूर्व तथा उत्तर सीमा का निर्णय आवश्यक है।

दण्डी ने शाकुन्तलम् नाटक के एक श्लोकांश 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' (1/20) का निर्देश काव्यादर्श (1/45) में किया है– लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः। (2) काव्यादर्श (2/226, 362) में 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' से 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्य दिया गया है। (3) काव्यादर्श (1/34) में 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है जो प्रवरसेन (400–450 ई०) की रचना है। बाण ने 'हर्षचरित' (1/14) में सेतुबन्ध का लेखक प्रवरसेन को बताया गया है। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–413 ई०) की पुत्री प्रभावति गुप्ता के पति वाकाटकनरेश रुद्रसेन (द्वितीय) का पुत्र था। इस प्रकार दण्डी 450 ई० के परवर्ती हैं।

काव्यादर्श के आधार पर सिंहली भाषा का ग्रन्थ 'स्वभाषालंकार' प्रायः 850 ई० में राजा सेन द्वारा लिखा गया था। कन्नड़ का अलंकार–ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' इसी काव्यादर्श पर आश्रित है जो अमोघवर्ष के द्वारा 815 ई० में रचा गया। अतः दण्डी आठवीं शताब्दी

ई० के बाद नहीं हो सकते। (2) काव्यादर्श (2/279) में दण्डी ने राजवर्मा की शिवभक्ति की चर्चा की है, इस राजा को काञ्चीनरेश नरसिंहवर्मा (द्वितीय 7वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) से अभिन्न माना गया है। (3) काव्यादर्श के मङ्गश्लोक में आये 'सर्वशुक्ला सरस्वती' इस वाक्यांश पर विज्जका (या विजया) की टिप्पणी प्रसिद्ध है। यह विज्जका पुलिकेशिन् (द्वितीय, 634 ई०) की पुत्रवधू थी, पी० वी० काणे इस आधार पर दण्डी को 600 ई० में सिद्ध करते हैं। (4) वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में दण्डि के सिद्धान्तों का परिवर्धन किया है। वामन का समय जयापीड के राज्यकाल (779–813 ई०) में माना जाता है। (5) कुछ विद्वानों ने बाण और माघ के ग्रन्थों की छाया काव्यादर्श में दिखाकर इन दोनों कवियों के अनुवर्ती दण्डी को 700 ई० में सिद्ध किया गया है। (6) अवन्तिसुन्दरीकथा में दिये गये दण्डी के पूर्वजों के वृत्तान्त से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारवी के मित्र दामोदर के प्रपौत्र दण्डी को भारवी के 100 एक सौ वर्ष बाद (600+100+700 ई०) रखा जा सकता है।

इन प्रमाणों से मुख्यतः दण्डी को 700 ई० के आसपास रखने का आग्रह नये विद्वानों ने किया है। इनके सभी तर्क काव्यादर्श और अवन्तिसुन्दरी कथा पर आश्रित हैं। दशकुमारचरित में केवल अराजकता की स्थिती देखकर प्राचीन विद्वानों ने हर्षवर्धन के पूर्व दण्डी को माना था। वस्तुतः यह अराजक स्थिती कभी भी हो सकती थी। किन्तु दण्डी का चित्रण उपर्युक्त कालसीमाओं के अन्तर्गत (450–700 ई०) ही माना जा सकता है, वह 550 ई० से 600 ई० का ही संकेत देता है। दण्डी की भाषा बाण आदि कवियों से सर्वथा अप्रभावित है किन्तु यह निर्णायक तथ्य नहीं है। बाण के बाद भी प्रसादगुण–युक्त वैदर्भी शैली का प्रयोग हुआ है। दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में तो बाण का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। इसीलिए दण्डी के काल का महत्त्वपूर्ण आधार यह 'अवन्तिसुन्दरीकथा' ही है जिसे प्रामाणिक न मानने की स्थिति में 600 ई० तक ही दण्डी को रखा जा सकता है; और यदि यह प्रामाणिक रचना हो तो दण्डी को 675 ई० एएवं 725 ई० के बीच रख सकते हैं।

दण्डी की रचनाएँ

शार्ङ्गधरपद्धति (श्लोक–175) में दण्डी की तीन रचनाओं का निर्देश है–

> **त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।**
> **त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।।**

दण्डी की रचनाओं में काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित तो परम्परा से प्रमाणित है; किन्तु तीसरी कृति के विषय में ऐकमत्य नहीं। छन्दोविचिति, कलापरिच्छेद, द्विसन्धानकाव्य एवं मृच्छकटिक तक के नाम प्रस्तावित हुए हैं। इधर बहुमत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की ओर झुका है। अतः इस ग्रन्थत्रयी का परिचय दिया जाता है।

काव्यादर्श

यह तीन परिच्छेदों का पद्यात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। परिच्छेद में (105 पद्य) काव्य का महत्त्व, लक्षण, भेद, महाकाव्य, गद्यकाव्य, भाषाभेद तथा काव्यगुणों का विचार है। द्वितीय परिच्छेद में 368 पद्य अलङ्कारों का विवेचन है जिसमें उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप आदि के भेद–प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में कालङ्कार, चित्रकाव्य तथा काव्यदोषों का विवेचन है (178 पद्य)। इस ग्रन्थ के आधार पर भामह ('काव्यालङ्कार' के लेखक) तथा दण्डी के पौर्वापर्य पर विवाद रहा है। किन्तु काव्यादर्श में काव्यालङ्कार के सिद्धान्तों का खण्डन दिखायी पङने से दण्डी ही

परवर्ती लगते हैं। दोनों ग्रन्थ सरल शैली में विवेचन–परक हैं किन्तु काव्यादर्श में कहीं–कहीं शास्त्रार्थ प्रवृत्ति भी है।

दशकुमारचरित

यह दण्ड–रचित गद्यकाव्य है जिसमें कथा और आख्यायिका नामक दोनों गद्य–भेदों के लक्षण उपन्यस्त हैं। इसके दण्डि–रचित होने में तो विवाद नहीं है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ को उनकी कृति मानने में आपत्ति उठी है। वर्तमान ग्रन्थ तीन भागों में उपलब्ध है– (1) पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठीका, (2) आठ उच्छ्वासों का दशकुमारचरित एवम् (3) उपसंहार। इनमें कुछ विद्वानों का अभिमत है कि पूर्वपीठिका और उपसंहार–भाग बाद में जोड़े गये हैं। दण्डि की मौलिक कृति में केवल मध्य भाग ही शेष है। कथा को अविच्छिन्न तथा पूर्ण करने के लिए आगे–पीछे कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए। इस मत को ईगलिंग (eggeling), अगाशे, विल्सन तथा कीथ ने प्रवृत्त किया। अपने मत के समर्थन में इन्होंने युक्तियाँ दी हैं कि कुछ पाण्डुलिपियों में पूर्वपीठीका और उपसंहार (उत्तरपीठिका) नहीं हैं, पूर्वपीठिका में दी गई वंशावली दशकुमारचरित की नामावली से कहीं–कहीं भिन्न है, प्रक्षिप्त भागों में व्याकरण–सम्बन्धी अनियमितताएँ हैं, इन भागों की पाण्डुलिपियों में पाठ–भेद बहुत है तथा शैली की दृष्टि से भी ये भाग मूल ग्रन्थ की अपेक्षा शिथिल हैं।

दशकुमारचरित को साकल्य रूप से दण्डी–रचित न मानने वाले विद्वानों की युक्तियाँ विचारणीय हैं। पाण्डुलिपियों में पूर्व और अन्तिम भाग न मिलना कई कारणों से सम्भव है जैसे– असुरक्षा, जीर्णता इत्यादि। ऐसी अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं (जैसे–बुद्धचरित की) जिनमें पूर्वापर भाग सुरक्षित नहीं रह सके। कभी–कभी पूर्वापर भाग में ताल–मेल न रहने या प्रतिलिपि करने में भूल के कारण भी कुछ नामों में सामञ्जस्य नहीं है। जैसे–मूलग्रन्थ में सुमन्त्र (पूर्वपीठिका में मन्त्रगुप्त), राजपुत्र (मन्त्रिपुत्र), प्रमति (कामपाल राजता का पुत्र – सुमति मन्त्री का पूत्र)। यह सब पाठ की अस्पष्टता का फल है। व्याकरण की शिथिलताएँ भी लिपिकारों के दोष हैं। सम्पूर्ण दशकुमारचरित की शैली समान रूप से सरल, प्रवाहपूर्ण, अल्प वर्णनों से युक्त तथा कथानक की रोचकता बनाये रखने वाली है। पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करते हुए कुछ संशोधकों ने अवश्य ही अपनी बुद्धि से कुछ परिवर्तन किये होंगे। अतः पूरी कृति दण्डी की है।

इस विषय में एम्० आर० कवि ने एक अन्य कारण बताया है कि 1250 ई० के आसपास दशकुमारचरित (सम्पूर्ण) का तेलुगु–अनुवाद हुआ था। जब समग्र दशकुमारचरित किसी कारण से पूर्ण और अन्त के अंशों से रहित हो गया तब किसी कुशल लेखक ने नष्ट भागों का तेलेगु से पुनः संस्कृत रूपान्तर कर दिया। दशकुमारचरित की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं– भूषण (शिवरामपण्डिकृत), पदचन्द्रिका (कविन्द्राचार्यकृत) तथा लघुदीपिका (भानुचन्द्रकृत)। ये केवल मध्यभाग पर ही हैं, पूर्व और उत्तरपीठिकाओं पर नहीं। अर्थात् इनकी दृष्टि मध्यभाग ही दण्डि–कृत है।

सम्पूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ को दण्डिकृत मानने के कई तर्क हैं– (1) 'दशकुमारचरित' शीर्षक की सार्थकता पूरे ग्रन्थ से होती है, मध्यभाग में तो सात कुमारों का पूरा और एक कुमार का अधूरा वर्णन है। नायक (राजवाहन) का आधा वर्णन तो पूर्वपीठिका में ही है, शेष दो कुमारों का भी वर्णन वहीं है। उत्तरपीठिका परिणाम या कार्यावस्था का परिचय देती है। अतः कथानक की दृष्टि से और शीर्षक के विचार से पूरा ग्रन्थ एकात्मक है। ऐसा न होने से इसका शीर्षक कुछ भिन्न ही होता। (2) भाव, भाषा शैली तथा विचार–तत्त्व (जीवनदर्शता) की एकरूपता पूरे ग्रन्थ को एकात्मक सिद्ध करती है।

सर्वत्र कुमारों का ही वर्णन है, प्रकृति–वर्णन या अन्य वर्णनों में संयम समान रूप से मिलता है, रोचचकता सर्वत्र मिलती है तथा वैदर्भ रीति का आद्यन्त निर्वाह हुआ है। कवि के विचारों पूर्व और मध्यभाग में कहीं विरोध नहीं है। (3) पूर्वपीठिका के मङ्गलश्लोक में आठ बार तथा गद्यभाग में अनेक बार 'दण्ड' शब्द का प्रयोग करने के कारण कवि का उननाम 'दण्डी' पड़ा था– यह भी इस रचना के साकल्य–रूप से दण्डि–कृत होने का प्रमाण है।

ऐसा माना जाता है कि दण्डी ने इसकी रचना युवावस्था में की थी। सम्भव है, उन्हें इसका पूर्व और अन्तिम भाग बाद में अच्छा नहीं लगा हो तो, उन्होंने इसका संशोधित रूप बनाया हो जिससे यह विवाद उत्पन्न हुआ अथवा किसी परवर्ती लेखक ने ही इस अंश का संशोधन किया। किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल मध्यभाग को दण्डिकृत मानने से कृति अपूर्ण और विकलाङ्ग होगी। इसके कथानक तथा अन्य पक्षों पर पृथक् विचार करेगें।

अवन्तिसुन्दरीकथा

दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका में मालव–नरेश की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय–वृत्त संक्षेप में वर्णित है, उसीका स्वीस्तर निरूपण इस 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में किया गया है।इस ग्रन्थ का आंशिक प्रकाशन 1924 ई० में दक्षिणभारती ग्रन्थमाला में श्री एम्० आर० कवि के सम्पादन में हुआ था। पुनः तिरुअन्नतपुरम् की अनन्तशयन–संस्कृत–ग्रन्थावली में 1954 ई० में इसका पूरा रूप प्रकाशित हुआ। विद्वानों का अनुसार हस्तलेख की अपूर्णता के कारण यह संस्करण भी अपूर्ण ही है। कुछ लोगों का विचार है कि यह दण्डी के नाम से किसी अन्य कवि के द्वारा की गयी रचना है। दूसरी और कुछ विद्वान हैं कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' ही दण्डी की मुख्य रचना है,इसीका सार दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के रूप में किसी ने प्रस्तुत किया होगा।

प्राचीन साहित्य में दशकुमारचरित की अपेक्षा इसी गद्यकाव्य को दण्डी की रचना के रूप में अधिक ख्याति मिली थी। 'नामसंग्रहमाला' में अप्पयदिक्षीत ने कहा है– इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगाः। इसमें सुबन्धु, मयूर और बाण की प्रशंसा की गयी है, जिसके आधार पर दण्डी का काल इनके अनन्तर 700 ई० में माना गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के शैली–सौन्दर्य के आधार पर पण्डितों में यह प्रशस्ति चली थी– दण्डिनः पदलालित्यम्। जो लोग इस गद्यकाव्य को दण्डी की कृति नहीं मानते, उनका कथन है कि इसके कवि ने दण्डि और बाण की प्रमुख विशिष्टताओं को लेकर इसका प्रणयन किया था। तदनुसार 'दशकुमारचरित' से पूर्वपीठिका का कथानक एवं भाषा में पदलालित्य का ग्रहण किया है तो 'हर्षचरित' से प्राचीन कवियों का गुणानुवाद एवं कविवंशवर्णन की प्रक्रिया अपनायी गयी है। इस पर 'कादम्बरी' का भी प्रचुर प्रभाव है जैसे अवन्तिसुन्दरीकथा (पृ० 47) में जो लक्ष्मी का वर्णन मिलता है, वह शुकनासोपदेश (कादम्बरी का भाग) के लक्ष्मी–वर्णन से अनुप्राणित है। इस गद्यकाव्य का पद्यात्मकक संक्षिप्त रूप (अवन्तिसुन्दरीकथासार) भी उपलब्ध है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। यह सप्तम सर्ग में समाप्त होता है। अवन्तिसुन्दरीकथा की प्रामाणिकता (दण्डी की कृति होने) पर इनका काल मुख्यतः आश्रित है– यह कहा जा चुका है।

दशकुमारचरित का कथन

'दशकुमारचरित' के तीन खण्डों में पूर्वपीठिका में कथा की पृष्टभूमि के साथ दो कुमारों की पूरी किन्तु नायक राजवाहन की अधूरी कथा दी गयी है। मूल भाग में राजवाहन की कथा पूर्ण करके शेष सात कुमारों की कथा वर्णित है। उपसंहार में कथा की सुन्दर समाप्ति की गयी है। अतः कथानक की दृष्टि से पूरी रचना एक सम्बद्ध सुघटित कृत है। ग्यारहवीं शताब्दी ई० में पूरी रचना को दण्डि–कृत मानते थे। इसकी पूर्वपीठिका का प्रथम उच्छास ग्रन्थ की भूमिका देता है कि मगध– नरेश राजहंस (जिनकी रानी वसुमति थी) को मालव–नरेश मानसार ने पराजित करके विन्ध्याटवी में रहने को विवश कर दिया। वहीं वसुमति ने राजवाहन नामक पुत्र को जन्म दिया। राजवाहन के संरक्षण में नौ अन्य कुमार भी आये। उनमें सात तो मन्त्रियों के पुत्र थे और दो मिथिलानरेश प्रहारवर्मा के पुत्र थे। दासों कुमारों की शिक्षा साथ–साथ हुई तथा वे बड़े होने पर दिग्विजय के लिए निकल पड़े। अभियान के क्रम में ही वे पृथक् हो गये। क्रमशः वे इस कथा के नायक राजवाहन से मिलते गये और अपनी अद्‌भुत कथाएँ सुनाते गये। पूर्वपीठिका के तृतीय और चतुर्थ उच्छासों में क्रमशः सोमदत्त और पुष्पोद्‌भव अपनी रोमांचक कथाएँ राजवाहन को उज्जयिनी में सुनाते हैं। पञ्चम उच्छास में राजवाहन और मालवनरेश मानसार (मगधनरेश के शत्रु) की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय और अद्‌भुत परिणय वर्णित है, यह कथा मूलदशकुमारचरित (मध्यभाग) के प्रथम उच्छास तक चली गयी है जहाँ नायक राजवाहन को बन्धन में डालकर चम्पा पर आक्रमण के लिए अवन्तिसुन्दरी का भाई (चण्डवर्मा) ले जाता है।

चम्पा–विजय के उत्सव में ही राजवाहन के मित्र अपहारवर्मा ने ऐसा आक्रमण किया कि चण्डवर्मा मारा गया, राजवाहन छुट गया। अब चम्पा में ही बिछड़े हुए मित्रों की एक–एक कर भेंट होती है तथा वे सब राजवाहन को अपनी–अपनी रोमांचक कथाएँ सुनाते हैं। सबकी कथाओं में किसी न किसी राज्य की प्राप्ति और राजकुमारी का परिणय भी रहता है अर्थात् अब सभी राजा बन गये हैं। क्रमशः अपहारवर्मा (उ० 2), उपहारवर्मा (उ० 3), अर्थपाल (उ० 4), प्रमति (उ० 5), मित्रगुप्त (उ० 6), और विश्रुत (उ० 8) अपने–अपने इतिवृत्त नायक को चम्पा में ही सुनाते हैं। उत्तरपीठिका में ये सभी मिलकर राजहंस के पास जाते हैं जो इन कुमारों को स्वविजीत राज्यों को समर्पित कर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार करते हैं। सभी कुमार नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं।

मित्रगुप्त के इतिवृत्त में अवान्तर कथाओं के रूप में धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती की कथाएँ भी हैं। मन्त्रगुप्त के वृत्तान्त की विशिष्टता है कि उसमें ओष्ठ्यवर्ण (पवर्ग) का बिल्कुल प्रयेग नहीं है, यहाँ तक कि पदान्त 'म्' भी अनुस्वार के रूप में परिवर्तित है। इसका विलक्षण कारण कवि ने कहा है कि उसकी प्रीयतमा के दाँतों द्वारा अधरक्षत होने से वह करों से ओठों को छिपाये हुए था (करकमलेन किंचत्संवृताननो ललितवल्लभारभस–दत्तदन्तक्षत–व्यसनविह्वलाधरमणिः)। उनकी कथा में (सप्तम उच्छास) लालित्य का अनुपम सन्निवेश है।

उपर्युक्त दस कुमारों की कथाओं से सम्बद्ध इस ग्रन्थ के दस उच्छास हैं (पू० वी० 3, 4, उ० पी० 1 राजवाहनचरित, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8)। इन सबके शीर्षक 'चरित' के रूप में हैं जैसे– सोमदत्तचरित, पुष्पोद्भवचरित इत्यादि। अन्य उच्छासों के शीर्षक हैं– कुमरोत्पत्ति (पू० पी० 1), द्विजोपकृति (पू० पी० 2, इसमें राजवाहन एक ब्राह्मण उपकारार्थ रात में निकला और उसकी खोज में ही सभी पृथक् हो गये) तथा

अवन्तिसुन्दरीपरिणय (पू० पी० 5)। इस प्रकार कथानक को ऐसा संघटित किया गया है किक रोचचकता बनी रहे तथा कहीं भी कथावस्तु शिथिल न हो।

वामन

वामनभी कश्मीर–नरेश जयापीड की राजसभा के मन्त्री थे, अतः इनका काल भी 800 ई. के निकट है। उद्भट और वामन ने एक–दूसरे के विषय में कुछ नहीं लिखा यद्यपि दोनों एक ही स्थान पर एक ही काल में थे। वामन का निर्देश ध्वन्यालोक तथा काव्यमीमांसा में मिलता है जिससे इनके काल का समर्थन होता है। इनका 'काव्यालंकारसूत्र' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसपर स्वयं वामन ने वृत्ति भी लिखी थी। इसका विभाजन पाँच अधिकरणों में है जिनमें क्रमशः काव्यशरीर, दोष, गुण, अलंकार तथा प्राचीन प्रयोगों पर विचार है। प्रथम और चतुर्थ अधिकरणों में तीन–तीन अध्याय हैं, शेष में दो–दो हैं। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति–प्रस्थान का प्रवर्तन किया था; काव्यगुणों को रीति से जोड़कर उन्हें काव्य में नित्य कहते हुए शब्दार्थ के धर्म के रूप में समझाया। काव्यालंकारसूत्र पर तीन प्रचीन टीकाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें गोपेन्द्र भूपाल की 'कामधेनु' प्रसिद्ध है।

रुद्रट

रुद्रट सम्भवतः आनन्दवर्धन के समकालिक (850 ई.) कश्मीर के शैवमतावलम्बी सामवेदी ब्राह्मण थे। समकालिक होने से वे एक–दूसरे के विषय में कोई चर्चा नहीं करते। राजशेखर (900 ई.) ने इनका उल्लेख किया है (काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः, काव्यमीमांसा, अध्याय–7)। रुद्रट की एकमात्र कृति है– काव्यालंकार। आर्या छन्द के 734 पद्य इसमें है जो सोलह अध्यायों में वितीर्ण हैं। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, चार प्रकार की रीतिया, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, दोष, अर्थालंकार, दस प्रकार के रस तथा प्रबन्धकाव्यों के भेदों का क्रमशः विवेचन किया गया है। अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से इसमें व्यापकता है। अलंकारों का तार्किक वर्गीकरण, रस–निरूपण, नायक–नायिका–भेद इत्यादि का विवेचन रुद्रट की विशिष्टता है। इस ग्रन्थ पर नमिसाधु व्याख्या मिलती है। ये श्वेताम्बर जैन थे जिनकी टीका का काल 1069 ई. दिया गया है।

उद्भट

उद्भट (भट्टोद्भट्ट) का एक ग्रन्थ **'अलंकारसारसंग्रह'** (निर्णयसागर प्रेस से 1915 ई. में प्रकाशित) केवल अलंकारों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें छह वर्ग, 79 कारिकाएँ तथा 41 अलंकारों विवेचन है। उद्भट ने अपने 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य के प्रायः 100 पद्य इन अलंकारों के उदाहरण के रूप में दिये हैं। उद्भट राजतरङ्गिणी के अनुसार (4/495) राजा जयापीड (राज्यकाल 779–813 ई.) की राजसभा के अध्यक्ष थे। अतः इनका काल 800 ई. के आसपास रखा जाता है। अलंकारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज (10 वीं शताब्दी का आरम्भ) ने 'लघुविवृत्ति' तथा राजानक तिलक (1100–1125 ई.) ने 'उदभटविवेक' नामक टीका लिखी थी।

22.4 सारांश

इस इकाई में आप संस्कृत के काव्य शास्त्र के सर्वेक्षण में साहित्य शास्त्र में सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व के विषय में कवियों के जीवन के विशेष रूप से वर्णन किया गया है भरतमुनिके नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। किन्तु संस्कृत नाट्य–परम्परा में भरत एक आदरणीय आचार्य थे जिनके नाम पर भरत–वाक्य का प्रयोग प्रत्येक नाटक में हुआ है। नाट्यशास्त्र' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें नाट्य और काव्य से सम्बद्ध नियमों का विस्तृत विवेचन है। इस इकाई में अग्निपुराण के अनेक विषयों से सम्पूर्ण पुराण है जिसके ग्यारह अध्यायों में (337–47) काव्यशास्त्रीय सामग्री है। इस पुराण के रचनाकाल पर काव्यशास्त्र के विद्वानों में मत भेद है। भामह स्थान भरत के अनन्तर प्रथम आचार्य के रूप में समादृत है। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना करके 'अलङ्कार–प्रस्थान' का प्रवर्तन किया था।संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सरल–प्राञ्जल–भावपूर्ण गद्य के लेखक के रूप में दण्डी का नाम अमरण है। दण्डी के विषय में अनेक प्रशस्तियाँ सुभाषितों के संग्रह–ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। एक प्रशस्ति में वाल्मीकि और व्यास के बाद तीसरा स्थान दण्डी को ही दिया गया है। इन सवके विषय में वर्णन किया गया।

22.5 शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
केवलं	केवल
च	और
एव	ही
प्रदीप	प्रकाश
प्रभापनेयम्	यह प्रभा
अतिगहनं	अत्यन्त गहन
तमो	अन्धकार
यौवन	जवानी
प्रभवम्	प्रभाव
सूर्यरश्मिभिः	सूर्य की किरणों
अग्नयस्त्रयः	तीन अग्नि
वेदास्त्रयः	तीन वेद
देवास्त्रयो	तीन देव

22.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज।
3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला,चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

22.7 बोध प्रश्न

1) प्रश्न–वामन का परिचय लिखिए
2) प्रश्न– रूद्रट का परिचय लिखिए
3) प्रश्न– उद्भट का परिचय लिखिए

22.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
2) पुस्तक का नाम– वैदिक साहित्य, लेखक का नाम– कपिलदेव द्विवेदी, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।

इकाई 23 संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्य भाग–2 (आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ ,पण्डितराज जगन्नाथ)

इकाई की रुपरेखा

23.0 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्:

- आनन्दवर्धन के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे
- कुन्तक के जीवन केविषय में आप परिचित होंगे
- अभिनवगुप्त के जीवन केविषय में आप परिचित होंगे
- क्षेमेन्द्र के जीवन के विषय में आप परिचित होंग
- मम्मट के जीवन के विषय में आप परिचित होंगे

23.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह 23 वीं इकाई है इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते है कि संस्कृत काव्य शास्त्र की आवश्यकता क्यों पड़ी?' संस्कृत काव्य शास्त्र समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी है संस्कृत काव्य शास्त्र आनन्दवर्धन के ध्वन्याोक में सामान्यतः ज्ञान–समाज के सभी विषयों को संस्कृत काव्य शास्त्र में समाविष्ट कर दिया गया। आनन्दवर्धन ने उदाहरण प्रायः संस्कृत के पूर्व–ध्वनिकालीन कवियों के दिये गये हैं पर अनेक स्वयं आनन्दवर्धन के अपने भी हैं। : प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट सभी के वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु शङ्का का बीज अभिनवगुप्त के 'लोचन' में है। कारिकाओं और वृत्ति की व्याख्या करते हुए अभिनव ने अनेक स्थलों पर कारिका कार और वृत्ति कार का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कारिका कार के लिए मूलग्रन्थकृत (कार) तथा वृत्तिकार के लिए ग्रन्थकृत् (कार) शब्द का भी प्रयोग 'लोचन' में मिलता है

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के व्याख्याता कुन्तक कश्मीर के निवासी थे। अभिनवगुप्त इसके समकालिक थे। इन सवका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

23.2 संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्य भाग–2 (आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ)

आचार्य आनन्दवर्धन

'ध्वन्यालोक' की रचना के विषय में संस्कृत के पण्डितों में तीव्र मतभेद है। ग्रन्थ के तीन अंग हैः कारिका, वृत्ति, तथा उदाहरण। कारिका में सिद्धान्त का सूत्र रूप में प्रतिपादन है, वृत्ति में कारिकाओं की व्याख्या हैं और फिर उदाहरण हैं। उदाहरण प्रायः संस्कृत के पूर्व–ध्वनिकालीन कवियों के दिये गये हैं पर अनेक स्वयं आनन्दवर्धन के अपने भी हैं। जहाँ तक वृत्ति का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि उसके रचयिता आनन्दवर्धन ही थे। प्रश्न कारिकाओं की रचना का है। संस्कृत की प्रचलित परम्परा के अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना आनन्दवर्धन ही की है। 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है और उसका एक ही रचयिता है। उत्तर–ध्वनि काल के प्रायः सभी आचार्य आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार अर्थात् कारिका और वृत्ति दोनों का रचयितता मानते हैं : प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट सभी के वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु शङ्का का बीज अभिनवगुप्त के 'लोचन' में है। कारिकाओं और वृत्ति की व्याख्या करते हुए अभिनव ने अनेक स्थलों पर कारिका कार और वृत्ति कार का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कारिका कार के लिए मूलग्रन्थकृत (कार) तथा वृत्तिकार के लिए ग्रन्थकृत् (कार) शब्द का भी प्रयोग 'लोचन' में मिलता है। अतएव डा० बुहर और उनके पश्चात् प्रो० जेकोबी, प्रो० कीथ और इधर डा० डे तथा प्रो० काणे का मत है कि कारिका कार अर्थात् मूलध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्धन में भेद है। इस श्रेणी के पण्डितों का अनुमान है कि कारिकाकार का नाम सहदय था–– उसी के आधार पर अभिनव ने 'ध्वन्यालोक' को कई स्थानों पर 'सहदयालोक' भी लिखा है। मुकुल आदि कुछ कवि आचार्यो ने भी ध्वनिकार के लिए सहृदय शब्द का प्रयोग किया है, ''तथाहि तत्र विवक्षितान्यायपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।'' इसके अतिरिक्त प्रो० कोणे ने प्रथम कारिका के 'सहृदयमनः प्रीतये' अंश की वृत्ति में 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि शब्दो के आधार पर इस अनुमान को पुष्ट करने की चेष्ठा की है। उनकी धारणा है कि आनन्द ने जान–बूझकर श्लेष के आधार पर इस वृत्ति में अपने गुरु मूल–ध्वनिकार सहृदय और अपने नाम का समावेश किया है। परन्तु उधर इनके विपरीत डा० संकरन् का मत है कि 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने केवल स्पष्टीकरण के उछेश्य से ही कारिकाकार और वृत्तिकार पृथक् उल्लेख किया है।। संस्कृत के अनेक आचार्यो ने कारिका और वृत्ति की शैली अपनायी है। सूत्र रूप में सिद्धान्त–कारिका देकर वे स्वयं ही उसका वृत्ति द्वारा व्याख्यान करते हैं–वामन, मम्मट आदि ने यही पद्धति ग्रहण की है।

इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनव ने ही 'अभिनवभारती' में अनेक स्थलों पर दोनों का अभेद माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम आसपेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत में' डा० संकरन् ने अभिनव के उद्धरणों द्वारा ही इस भेद सिद्धान्त का खण्डन किया है, और संस्कृत की परम्परा को ही मान्य घोषित किया है।

डा० संकरन् का तर्क है कि यदि कारिकाकार का व्यक्तित्व पृथक् था तो उनके लगभग एक शताब्दी पश्चात् कुन्तक, महिमभट्ट तथा अभिनव के शिष्य क्षेमेन्द्र को इस विषय में भ्रान्ति के लिए अधिक अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कैसे सम्भव हो सकता है कि स्वयं आनन्द ही उनसे परिचित न हों या उन्होंने जान–बूझकर अपने गुरु का नाम छिपाकर अपने को ही ध्वनिकार घोषित कर दिया हो। आनन्द ने स्पष्ट ही अपने को ध्वनि का प्रतिष्ठाता कहा है।

कुन्तक

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के व्याख्याता कुन्तक कश्मीर में ही 975 ई. तथा 1025 ई. के बीच हुए थे। अभिनवगुप्त इसके समकालिक थे। कश्मीरी विद्वानों के विशिष्टता के अनुसार इन दोनों ने एक–दूसरे की चर्चा तक नहीं की है। कुन्तक की एक ही कृति 'वक्रोक्तिजिवीत' मिली है। इसमें कारिकाएँ तथा उनकी सोदाहरण विस्तृत व्याख्या है। पूरा ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। वक्रोक्ति का स्वरूप, उसके भेद; सुकुमार, मध्यम तथा विचित्र मार्गो का विवेचन वक्रता के छह भेदों का क्रमशः निरूपण – ये विषय इसमें आये हैं।प्रकृत शास्त्रीय ग्रन्थ 'वक्राक्तिजीवितम्' कविवर आचार्य राजानक कुन्तक की एक मात्र उपलब्ध अपूर्ण अर्थात् खण्डित रचना है। यद्यपि अपने पूर्ववर्त्ती महाकवियों की परम्परा के अनुसार ही आचार्य कुन्तक ने भी ग्रन्थारम्भ में आत्मवृत्तविषयक कोई भी निर्देश नहीं दिया है। सम्भव है कि ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर उन्होंने आत्मविषयक कुछ लिखा हो किन्तु ग्रन्थ का अन्तिम भाग अद्यावधि अप्राप्य होने के कारण तद् विषयक कुछ भी पता नहीं चलता है। तथापि अन्यान्य उपलब्ध आन्तरिक एवं बाह्म–साक्ष्यों के आधार पर आचार्य कुन्तक के समयनिर्धारण आदि पर विचार किया जा रहा है–

आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ में आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक से अनेक कारिकाएँ एवम् उदाहरण प्रस्तुत किये हैं:–

ननु कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितमिति–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीशु महाकविनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवतिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनानाम्।। (ध्वन्या० 1–4

पुनः रसवदलङ्कार के खण्डन के सन्दर्भ में अधोलिखित कारिका–

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरित में मतिः (ध्वन्या० 2–5)

वृत्तिभाग से उद्धृत अंश यथा–

'क्षिप्तो हस्तावलनः' इत्यादि । (ध्वन्या० पृ० 195)
'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि' इत्यादि । (ध्वन्या० पृ० 193) ।

मंगलिकश्लोक द्वारा 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण यथा–

'स्वेच्छा केसरिणः' इत्यादि । (ध्वन्या० पृ० 4)।

इस प्रकार निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक की कारिकाओं तथा वृत्तिभाग से सुपरिचित किं वा ध्वन्यालोककार के परवर्त्ती कवि थे।

इसी प्रकार कविवर राजशेखर की विभिन्नरचनाओं से भी आचार्य ने प्रकृत ग्रन्थ में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं–

प्रकरण वक्रता का उदाहरण यथा –

यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केष्वर/नुकारी नटः प्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमानः–

कर्पूर इब दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।

नमः श्रृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने।। (बालरामायण 4)

महाकवि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा (पृ० 75–73) में स्पष्टतः ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन का नामोल्लेख किया है–

प्रतिभाव्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसित्यानन्दः । सा हि कवेः
अव्युत्पत्तिकृतं दोशमशेषमाच्छादयति। तदाह–
अव्युत्पत्तिकृतो दोशः षक्त्या संव्रियते कविः।
यस्त्वषक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते।।

इससे निर्विवाद रूपेण राजशेखर का आनन्दवर्द्धनाचार्य के पश्चात् होना सिद्ध हो जाता है।

अब आचार्य कुन्तक के समय–निर्धारण से पूर्व राजशेखर के समय पर हमें विचार करना आवश्यक हो जाता है।

प्रोफेसर कोनो ने किन्हीं शिलालेखों के आधार पर राजशेखर को चेदि राजवंश से सम्बन्धित माना है। एक किवदन्ती के अनुसार राजशेखर ने अपने तीनों नाटक श्रीशङ्कराचार्य को समर्पित किये थे। माधवाचार्य ने अपने 'शङ्करविजय' में राजशेखर की कथा का वर्णन किया है–'तत्रोदितः कश्चन राजशेखरः इत्यादि। जर्मनविद्वान् फ्लीट महाशय ने अस्नी शिलालेख (974 वि० ; 917 ई०) से राजा महिपाल को ही सम्बन्धित माना है जिनके गुरु राजशेखर थे जैसा कि स्वयं राजशेखर ने अपने विभिन्नग्रन्थों में दर्शाया है–

देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणी। (बालभारत 1–11)। रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।

(विद्धशालभ० 1–6)

रहुउल चुडामणि यो महिन्दबालस्स को अ गुरु। (कर्पूरमञ्जरी 1–5)
बालकई कइराओ णिबभर राअस्स तह उवज्झाओ। (कर्पूरमञ्जरी 1–9)

पिशेल महोदय ने इन निर्भयराज को महेन्द्रपाल ही माना है। इसी महेन्द्रपाल तथा उसके पुत्र महीपाल ने कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज में राज्य कियझं सियाडोनी शिलालेख के अनुसार 903 से 907 तक महेन्द्रपाल तथा 917 तक महीपाल कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सम्राट् रहे। इस प्रकार राजशेखर का समय अपने पूर्ववर्ती आनन्दवर्द्धनाचार्य के पश्चात् 884 ई. के अनन्तर तथा 959 ई. के पश्चात् ही निश्चित की जा सकती है।

डा० मुकर्जी तथा डा० लाहिड़ि के मतानुसार आचार्य अभिनवगुप्त आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित से सुपरिचित थे तथा उन्हें भरत के लक्षण की वक्रोक्ति के साथ समानता सिद्ध की। अत एव अभिनव गुप्त आचार्य कुन्तक के परवर्ती थे क्योंकि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपनी ध्वन्यालोक वृत्ति में प्रतीयमान रूपक के उदाहरण में 'प्राप्तश्रीरेव कस्मात्' श्लोक दिया है तथा इसी श्लोक को आचार्य कुन्तक ने 'प्रतीयमानव्यतिरेक' के उदाहरण में बड़ी श्रृद्धा के साथ प्रस्तुत किया हैः–

'तत्त्वाध्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम्।

(वक्रो० जी०)

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी की व्याख्या निम्न प्रकार की हैः–

यद्यपि चात्र व्यतिरेको भवति तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात् नाद्यतनात्।

आचार्य अभिनव गुप्त का ''तटि तारं ताम्यति ? इत्यत्र तट शब्दस्य पुंस्त्व–नपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः–स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा'' यह कथन आचार्य कून्तक के 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' कारिकांश तथा उसकी वृत्ति का केवल अनुवाद है।

आचार्य कुन्तक का सनामनिर्देश महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक', नरेन्द्रप्रभसूरि के 'अलङ्कारमहोदधि', विद्याधर की 'एकावली' एवम् सोमेश्वर की 'काव्य–प्रकाश–टीका' में भी मिलता है–

1) काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।

   यस्य सर्व निरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दिश्यते मया।।

2) माधुर्यसुकुमाराभिधभोजोविचित्राभिधं तदुभयमिश्रत्वसम्भवं मध्यमं नाम मार्ग केऽपि बुधा कुतु (न्त) कादयोऽवदनुक्तदयन्तः । यदाहुः–

   सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।

   सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।। (अल० महो० पृ० 202)

3) एतेन यत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्।

(एकावली पृ० 50)

इस प्रकार निर्विवाद रूप से उपर्युक्त ग्रन्थकार आचार्य कुन्तक के परवर्ती थे तथा इन सब में महिमभट्ट प्राचीनतम थे। आचार्य महिमभट्ट ने आचार्य कुन्तक की वक्रताओं तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनाचार्य की ध्वनियों को एक रूप कहा है।

ध्वनिवर्णपदार्थेशु वाक्ये प्रकरणे तथा।
प्रबन्धेऽप्याहुराचार्याः केचिद् वक्रत्वमाहितम्।।
(अभि० भा० पृ० 227–21)

कहकर साहित्यमीमांसाकार ने भी आचार्य कुन्तक की ही कारिकाओं को उद्धृत किया है। अतः महिमभट्ट, अभिनवगुप्त, नरेन्द्रप्रभूसरि, विद्याधर तथा सोमेश्वर प्रभृति ग्रन्थकार आचार्य कुन्तक की पर सीमा बनाते हैं। इस प्रकार विविध विवेचनों से आचार्य कुन्तक की पूर्वसीमा 950 ई. तथा पर सीमा 1015 ई. मानी जा सकती है। क्योंकि आचार्य

अभिनव का जन्म 950–60 ई० में निर्धारित कर उनका कृतित्वकाल 990 से 1014–15 इ० ही सम्भव है तथा आचार्य अभीनव से पुर्व आचार्य कुन्तकं का होना निश्चित ही है

आचार्य कुन्तक शैव थे। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के प्रारम्भ में वृत्ति में शिवजी की वन्दना करते हुये –''जगतत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम्। शिवशक्ति परिस्पन्दमान्रोपकरणं नुमः।।'' कहकर अपने आराध्यदेव शिव को शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरण वाला मना है। वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी थे। प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी शिव को ही एक मात्रपरमतत्त्व तथा इस समस्त प्रपञ्च जगत् की रचना के लिए उनकी शक्तिपरिस्पन्द कों ही पर्याप्त माना जाता है। शक्तिएवं शक्तिमान शिव में पूर्ण भेद है।

ग्रन्थ का अभिधान–आचार्य कुन्तक के एक मात्र उपलब्ध इस अपूर्ण ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' ही रखा होगा जैसा की उन्होंने स्वयं ग्रन्थ के द्वितीय तथा तृतीय उन्मेष के अन्त में–'इति श्रीमत्कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय/तृतीय उन्मेषः' लिख कर स्पष्ट किया है, परन्तु कतिपय विद्वान् प्रथम उन्मेष के अन्त में लिखित– 'वक्रोक्तिजीविते काव्याल ङ् –कारे' तथा ग्रन्थ की द्वितीय कारिका– ''लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्यायमलङ् –कारः कोऽप्यपूर्णो विधीयते ।।'' के अनुसार ग्रन्थ के कारिकाभाग को 'कावयालङ्कार' तथा वृत्तिभाग को 'वक्रोक्तिजीवित' संज्ञा देते हैं इस मत के प्रतिपादकों में सर्वप्रमुख डा० काणे का कथन है कि–

it appears that कुन्तक meant the karakas alone to be colled काव्यालङ्कार as the karika of the first उन्मेष states 'लोकोत्तर' (इत्यादि) the onthis says ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत् किमर्थमित्याह–अपूर्वः तद् व्यतिरिक्ताभिधायी ।.....कोऽपि अलौकिकः सातिशयः। लोको सिद्धये असामान्याहादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये। यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवं विधवैचित्र्यसिद्धिः। it ma be noticed that the works of भामह , उद्भट and रुद्रट were called काव्यालङ्कार thought the karikas thus appear to have been meant to be called काव्यालङ्कार, the whole work has been rappered to by latter writers as वक्रोक्तिजीवित the वृत्ति is quite clean on this point तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलङ्कारः इत्यभिधानम्, उपभादिप्रभेयजात्मभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयेजनमिति। (h. s. p., p. 225-226).

आचार्य कुन्तक के अनेक पवरवर्ती कवियों ने आचार्य को केवल 'वक्रोक्तिजीवितकार' के रूप में 'कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते' कहकर ही स्मरण किया है न कि 'काव्यलङकार' तथा वृत्तिभगका 'वक्रोक्तिजीवित' नहीं, अर्थात् दो नाम नहीं रखे। फिर प्रकृतग्रन्थ का यदि 'काव्यालङ्कार' नाम रखना ही आचार्य कुन्तक को अभीष्ट होता तो अन्य–भामह, रुद्रठ आदि आचार्यो के समान ही वह भी कारिका में –'काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते' तथा वृत्ति में–''अलङ्कारों विधीयते, अलङ्करणं क्रियते। कस्य–काव्यस्य, कवेः कर्म काव्यं तस्य''। न लिखकर 'काव्यालङ्कार इति ग्रन्थः क्रियते'– ऐसा लिखते। अपने ग्रन्थों के काव्यालङ्कार प्रभृति नाम रखने वाले आचार्यो ने लिखा है :–

'काव्यालङ्कार इत्येषो यथा बुद्धिर्विधास्यते'। (भामह–काव्यालङ्कार 1–1)।

काव्यालङकारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्तिः'। (रुद्रट–काव्यालङ्कार 1–2)।

आचार्य उद्भट के 'काव्यालङ्कारसङ्ग्रह' की विवेचना करते हुए प्रतिहारेन्दुराज लिखते हैं–

विद्वद्ग्रन्थान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कार–संग्रहः।।

इनके अतिरिक्त आचार्य वामन ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' रखा। आचार्य कुन्तक ने दण्डी के काव्यादर्श या आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक को ही अपना विषय बनाया। आचार्य की यह वृत्ति भी 'ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराः'। यही सिद्ध करती है कि प्रारम्भिक कारिका में –'काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते'। लिखकर केवल काव्या –लङ्कार विषयक अपने अपूर्व ग्रन्थ की रचना की ओर इंगित किया है क्योंकि उन्होंने स्वयं वृत्तिभाग में– ''अलङ्कारः शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वात् मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यदुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु , तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे''। अलङ्कार शब्द की एतदर्थ ही व्याख्या की होगी, निरर्थक नहीं। यही नहीं, आचार्य कुन्तक ने उपमादि सम्पूर्ण अलङकार वर्ग को ही अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' की वाक्यवक्रता में समाहित कर दिया है–

''वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविश्यति ।।''' (1–20)
तयोः पुनरलङ्कृतिः वक्रोक्तिरेव'। (1–10)

इस प्रकार आचार्य कुन्तक को अपने ग्रन्थ का 'वक्रोक्तिजीवित' नाम रखना ही अभिष्ट था, इसके विपरीत शङ्का करना निर्मूल है।

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ की रचना का उछेश्य भी अत्यन्त स्पष्ट कर दिया। उन्होंने अलङ्कारग्रन्थ तथा अलङ्कार्य काव्य दोनों के प्रगयोजनों को पृथक् करते हुए लिखा है– ''यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः''। उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति'। अर्थात् उन्होंने अन्य प्राचीन आचार्यों के अलङ्कार ग्रन्थों में अलङ्कारवैचित्र्य न पाकर प्रकृतग्रन्थ की रचना वैचित्र्यसिद्धि के निमित्त की। इसी प्रकार अलङ्कार्य काव्य रचचना का प्रयोजन सहृदय–हृदयाह दकरत्व होकर पुरुषार्थचतुष्टय सिद्धि को माना है–

''धर्मादेरुपेयभूतस्य चतुवर्गस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम्''।

(वक्रो० जी० पृ० 7)

''कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।

आहाद्यामृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्।।'' (वक्रो० जी० पृ० 12)

योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतयासर्वषास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्त्तु मर्हतीति। (वक्रोक्तिजीवितम् पृ० 12)।

महिमभट्ट (1020–1050 ई.) ने ध्वन्यालोक तथा वक्रोक्तिजीवित दोनों का खण्डन **व्यक्तिविवेक** में किया है।मम्मट ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित दोष–विवेचन का अनुसरण किया है और उनके अनुमानवादी मत (व्यञ्जना अनुमान से भिन्न नहीं) का खण्डन भी किया है। व्यक्तिविवेक में तीन विमर्श (अध्याय) हैं जिनमें ध्वनि का खण्डन किया गया है। महिमभट्ट तथाकथित प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ को अनुमान का विषय मानते हैं। ध्वनि के भेदों–प्रभेदों पर वे उपहास करते हैं। ध्वन्यालोक से ध्वनि के 40 उदाहरण

लेकर उन्हें अनुमेय सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार दो अर्थ होते हैं– वाच्य और अनुमेय। वक्रोक्ति और ध्वनि सब अनुमेय है। द्वितीय विमर्श में उन्होंने दोषों का विवरण दिया है– अनौचित्य काव्य का सबसे बड़ा दोष है। व्यक्तिविवेक की एक प्राचीन टीका (सम्भवतः रुय्यक कृत) मिली है जिसमें लेखक के मतों का उपहास किया गया है।

अभिनवगुप्त कश्मीर के बहुत बड़े आचार्य तथा तन्त्रवेत्ता थे। शिवाद्वैत दर्शन (प्रत्यभिज्ञा), तन्त्र, स्तोत्र तथा काव्यशास्त्र–विषयक ग्रन्थों की रचना से अपने व्यापक ज्ञान का इन्होंने परिचय दिया है। दर्शन–क्षेत्र में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी' उत्पलदेव के ग्रन्थ और वृत्ति पर टीका है जो बृहत् और लघु दो संस्करणों में है।तन्त्र के क्षेत्र में इनका 'तन्त्रालोक' बहुत प्रसिद्ध है, इसका संक्षिप्त रूप 'तन्त्रालोकसार' भी इन्होंने लिखा था। मालिनीविजयवार्तिक तथा परात्रिंशिकाविवरण इनके अन्य तन्त्र–ग्रन्थ हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दो की प्रसिद्धि और महत्ता अत्यधिक है– ध्वनयालोक की **लोचन** टीका तथा नाट्यशास्त्र की टीका **अभिनवभारती।** यह नाट्यशास्त्र पर एकमात्र उपलब्ध टीका है किन्तु अनेक स्थानों पर पाठ त्रुटित है। इसमें प्राचीन मतों की समीक्षा भी है। यह एक स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में है। 'लोचन' ध्वनि और रसनिष्पत्ति को समझने में बहुत सहायक है। अभिनवगुप्त इसकी प्रशंसा में कहते हैं– किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि? इसमें परवर्ती टीका 'चन्द्रिका' का संकेत है। इनका साहित्यिक कार्यकाल 980–1010 ई. के बीच है।

क्षेमेन्द्र

कश्मीर–निवासी क्षेमेन्द्र ने प्रायः 40 ग्रन्थों की रचना विविध साहित्य–प्रकारों में की। काव्यमाला में इनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं– औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण तथा सुवृत्ततिलक। इनका काल प्रायः निश्चित है। बृहत्कथामञ्जरी (19/37) के अनुसार इन्होंने अभिनवगुप्त से साहित्य की शिक्षा पायी थी, औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण की रचना राजा अनन्त (1028–35 ई.) के राज्यकाल में की थी एवं दशावचारचरित–काव्य को 1066 ई. में पुरा किया था जब अनन्त के पुत्र कलश का शासन था। अतः क्षेमेन्द्र का काल 1000 ई. से 1070 ई. तक माना जा सकता है। औचित्यविचारचर्चा में औचित्य–प्रस्थान का प्रवर्तन है। इसमें 19 कारिकाएँ हैं, अन्त में पाँच पद्यों में कवि का वंश–वर्णन है। औचित्य के 27 क्षेत्रों को समझाने के लिए क्षेमेन्द्र ने बहुत से उदाहरण अपनी वृत्ति में दिये हैं। सुवृत्ततिलक इसीकी पूरक ग्रन्थ है जिसमें वर्णनीय विषय के अनुसार छन्दों के चयन का औचित्य दिखाया गया है। कविकण्ठाभरण 55 कारिकाओं का ग्रन्थ है जो पाँच सन्धियों में विभक्त है। कविता रचना के पाँच सोपान, शिष्यों के तीन वर्ग, कवियों के पाँच वर्ग तथा दस प्रकार के चमत्कार–ये सब इसकी विशिष्टाएँ विवेचनाएँ है। तीनों पुस्तकें हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित हैं।

मम्मट

काव्यशास्त्र में सर्वाधिक प्रचलित प्रौढ़ ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के लेखक मम्मट भी कश्मीरी थे। इन्होंने अभिनवगुप्त, नवसाहसांकचरित (1005 ई.) तथा भोज (11 वीं श. पूर्वार्ध) का उल्लेख किया है; काव्यप्रकाश पर प्रथम टीका माणिक्यचन्द्र ने 1130 ई. में लिखी। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' (1143 ई.) में इनके मत का खण्डन किय। इनके आलोक में मम्मट को 1050–1100 ई. के मध्य रखा जासकता है। इनके दो ग्रन्थ हैं– काव्यप्रकाश तथा शब्दव्यापारविचार।

काव्यप्रकाश दस उल्लासों में विभक्त कारिका–वृत्ति–उदाहरण के रूप में लिखा गया अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें 142 कारिकाएँ तथा 603 उदाहरण दिये गये हैं। इसमें काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण और भेदों का सर्वथा नवीन प्रतिपादन है। ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य के भेदों पर विस्तृत विचार करके मम्मट ने व्यञ्जना को पृथक् वृत्ति के रूप में समझाने के लिए पूरा शास्त्रार्थ किया है (उल्लास–5)। इसीसे इन्हें 'ध्वनि–प्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा गया है। काव्यदोष (उ. 7), काव्यगुण (उ. 8) तथा अलंकारों (उ. 9 तथा 10) पर अत्यधिक प्रौढ़ विवेचन इन्होंने इस ग्रन्थ में किया है। मम्मट ने 61 अर्थालंकारों की विवेचना की गई है।। काव्यप्रकाश की महत्ता और क्लिष्टता की दृष्टि से इस पर अनेक टीकाएँ लीखी गई जैसे रुय्यक कृत 'संकेत' (1145 ई.), माणिक्यचन्द्र कृत 'संकेत' (1160 ई.), नरहरितीर्थ कृत 'चित्तानुरञ्जिनी' (1242 ई.), चण्डीदास कृत 'दीपिका' (13 वीं श.), विश्वनाथ कृत 'दर्पण' (14 वीं श.), गोविन्द ठक्कुर कृत 'काव्यप्रदीप' (15 वीं श.., इस पर भी वैद्यनाथ ने 'प्रभा' और नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका लिखी), भीमसेन कृत 'सुधासागर' (1723 ई.), वामनाचार्य झलकीकर कृत 'सुबोधिनी' (बम्बई संस्कृत सीरिज में प्रकाशित) इत्यादि 50 टीकाएँ उपलब्ध हैं इसीलिए कहा गया है–

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

विश्वनाथ कविराज

उत्कल–प्रदेश के विश्वनाथ कविराज संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य हैं जिनका 'साहित्यदर्पण' सभी काव्यप्रेमियों को आकृष्ट करता हें। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था जो कलिंग के किसी राजा के सन्धिविग्रहिक (विदेशमन्त्री) थे, विश्वनाथ भी इस पद पर थे। विश्वनाथ अनेक भाषाओं के ज्ञाता (षोडशभाषावारविलासीनिभुजंग) तथा अनेक लक्ष्य ग्रन्थोंटीकाओं के भी लेखक थे। इनकी 'चन्द्रकला' नाटिका भी प्रसिद्ध है। विश्वनाथ ने एक पद्य में (साहित्यदर्पण 4/14 की वृत्ति) अलावदीन (खिलजी–शासक 1296–1316 ई.) का उल्लेख किया है। संयोगवश साहित्यदर्पण की एक पाण्डुलिपि जम्मू से प्राप्त हुई है जो 1385 ई. में लिखी गयी थी। अतः विश्वास का समय 1300 ई. और 1350 ई. के बीच माना जाता है। इस विषय में अन्य प्रमाण भी हैं।

साहित्यदर्पण दस परिच्छेदों में विभक्त सर्वागपूर्ण लक्षणग्रन्थ है जिसमें काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों समाविष्ट हैं। कारिका–वृत्ति–उदाहरण के रूप में यह ग्रन्थ है। उदाहरण बहुत प्राचीन हैं किन्तु कुछ लेखक के पिता–पितामह के हैं, कुछ उनके अपने भी हैं। इसमें 'वाक्यं रसात्मकं वाक्यम्' काव्यलक्षण के रूप में दिया गया है, दोष का काव्यापकर्षक और गुणालंकाररीति का उत्कर्ष–हेतु के रूप में प्रतिपादन है। शब्दशक्ति (परि. 2), रस (3), काव्य के दो भेद ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य; चित्रकाव्य का खण्डन), व्यञ्जना की स्थापना (परि. 5), काव्य के स्वरूपगत भेद– दृश्य, श्रव्य और उनका विवरण (परि. 6), दोष (7), गुण (8), रीति (9) तथा अलंकारों (10) का क्रमशः वर्णन किया गया है। सामान्यतः इसमें निष्कर्ष–रूप सिद्धान्त दिये गये हैं, शास्त्रार्थ से दूर रहने का प्रयास है। यह ग्रन्थ पूर्वी भारत में बहुत प्रचलित हुआ अतः इसकी टीकाएँ वहीं लिखी गयीं। लोचन (विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास–कृत), विवृति (रामचरण तर्क–वागीश, 1701 ई.) इत्यादि प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। हिन्दी में शालग्रामशास्त्री की विमला और सत्यव्रत सिंह की विस्तृत शोधपूर्ण व्याख्या प्रख्यात हैं। पं. कृष्णमोहन

शास्त्री की संस्कृत व्याख्या तथा केवल परिच्छेद 1,2 तथा दस पर पी. वी. काणे की अंग्रेजी व्याख्या भी लोकप्रिय है।।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ एक प्रकार से अन्तिम तथा प्रौढतम काव्यशास्त्री माने जाते हैं। ये तैलंक ब्राह्मण थे, पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। जगन्नाथ ने वेदान्त, मीमांसा, न्याय, व्याकरण की शिक्षा अपने पिता तथा विभिन्न अन्य गुरूओं से ली थी। इनका समय 1590–1670 ई. के बीच है। काव्यशास्त्र में 'रसगङ्गाधर' इनका प्रौढ़ तथा प्रख्यात ग्रन्थ है। यह सम्भवतः 1641 ई. में लिखा गया था (आसफ खाँ की मृत्यु का समय)। इसमें सौन्दर्य–सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। काव्यशास्त्रीय की त्रयी (आनन्दवर्धन, मम्मट तथा जगन्नाथ) में अन्तिम तथा प्रौढ़ होने के कारण इनका महत्त्व है। नव्यन्याय की शैली का उपयोग करके प्रत्येक तथ्य को तर्क से पुष्ट करने से जगन्नाथ विद्वानों में आदरणीय हैं। ग्रन्थ में समस्त उदाहरण इनके स्वनिर्मित हैं। ग्रन्थ यद्यपि अपूर्ण है तथापि अपनी विषयवस्तु के कारण अत्यन्त प्रगाढ़ है।

रसगङ्गाधर दो आननों में विभक्त विशाल ग्रन्थ है। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, प्रतिभा का एक मात्र काव्यहेतु होना, रस का स्वरूप तथा भेद, प्राचीन 20 गुणों का स्पष्टीकरण, गुणत्रयवाद, भाव, विभावादि, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावसबलता इत्यादि का विवेचन है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विविध भेदों पर प्रकाश डालकर क्रमशः सत्तर अलंकारों की विवेचन की गयी है। 'उत्तर' अलंकार पर ही ग्रन्थ समाप्त हो गया है। इसकी प्राचीन व्याख्या नागेश–कृत मिलती है जो रसगङ्गाधर की रचना के 50 वर्ष पश्चात् लिखी गयी थी। इसका नाम 'गुरुमर्मप्रकाशिका' है। वर्तमान शताब्दी में कविशेखर बदरीनाथ झा ने संस्कृत व्याख्या लिखी जो चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हुई। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की व्याख्या निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुई थी।

23.4 सारांश

इस इकाई में आप संस्कृत साहित्य के कवियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व के विषय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के विषय में संस्कृत के पण्डितों में अनेक मतभेद है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट ही अपने को ध्वनि का प्रतिष्ठाता कहा है। कुन्तक ने काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के व्याख्याता कुन्तक कश्मीर के है अभिनवगुप्त इसके समकालिक थे। वक्रोक्ति का स्वरूप, उसके भेद; सुकुमार, मध्यम तथा विचित्र मार्गो का विवेचन वक्रता के छह भेदों का क्रमशः निरूपण ये विषय इसमें आये है। आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ में आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक से अनेक कारिकाएँ एवम् उदाहरण प्रस्तुत किये हैंःआचार्य कुन्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वन्यालोक की कारिकाओं तथा वृत्तिभाग से सुपरिचित किं वा ध्वन्यालोककार के परवर्त्ती कवि थे। पण्डितराज जगन्नाथ एक प्रकार से अन्तिम तथा प्रौढतम काव्यशास्त्री माने जाते हैं। ये तैलंक ब्राह्मण थे, पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था।रसगङ्गाधर दो आननों में विभक्त विशाल ग्रन्थ है। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, प्रतिभा का एक मात्र काव्यहेतु होना, रस का स्वरूप तथा भेद, प्राचीन 20 गुणों का स्पष्टीकरण, गुणत्रयवाद, भाव, विभावादि, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावसबलता इत्यादि का विवेचन है। इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

23.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
वाक्यस्य	वाक्य का
वक्रभावा	कुटिल भाव
अन्यः	अन्य
भिद्यते	काटा गया
यः	जो
सहस्त्रधा	हजारों बार
यत्र	जहॉ
अलङ्कारः	अलंकार

23.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज।
3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला,चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

23.7 बोध प्रश्न

1) प्रश्न– रसगङ्गाधर का सामान्य परिचय दीजिये।
2) प्रश्न–अभिनवगुप्त का जीवन परिचय दीजिये।
3) प्रश्न–मम्मट का जीवन परिचय दीजिये।
4) प्रश्न–पण्डितराज जगन्नाथ का जीवन परिचय दीजिये।

23.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी।
2) पुस्तक का नाम– वैदिक साहित्य, लेखक का नाम– कपिलदेव द्विवेदी, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।

इकाई 24 रस सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय

इकाई की रुप रेखा

24.0 उदेश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- रस के विषय में आप परिचित होंगे
- रस सम्प्रदाय के विषय में आप परिचित होंगे
- रस के भेद के विषय में आप परिचित होंगे
- अलंकार के विषय में आप परिचित होंगे
- अलंकार के भेद के विषय में आप परिचित होंगे

24.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह 24 वीं इकाई है इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि संस्कृत काव्य शास्त्र में रस सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय की आवश्यकता क्यों पड़ी?' संस्कृत काव्य शास्त्र में रस और अलंकार समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी है भरतमुनि के पश्चात् रस सम्प्रदाय को लेकर जो काव्यशास्त्रीय परम्परा विकसित हुई, इसके प्रथम छोर पर आचार्य भामह और अंतिम छोर पर पण्डितराज जगन्नाथ अवस्थित हैं। अलंकरवादी आचार्यो ने जिनमें भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट प्रमुख हैं, अलंकार जो अंगी (प्रधान) और रस को अंग (गौण) माना और रसवत् अलंकार की परिधि में रस को भी समेट लिया । उन्होंने रस की काव्यगत महत्ता को अवश्यमेव स्वीकार की किन्तु काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में उसे स्थान नहीं दिया। कालांतर में रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यो ने रस को वरीयता प्रदान की। इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

24.2 रस सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय

रस

'रस' शब्द 'रस्' धातु में 'अच्' प्रत्यय जोड़ने से बिना है जिसका सामान्य अर्थ है आनंद देने वाली वस्तु से प्राप्त होने वाला सुख या स्वाद! इसकी व्युत्पत्ति 'आस्वाद्यते इति रसः' के रूप में भी की गई है जिसका अर्थ है जो आस्वादित किया जाय अथवा जिसका स्वाद लिया जाय। 'रस' और 'आस्वाद' शब्द प्रायः समानार्थवाची शब्द हैं किन्तु व्यवहार में उन दोनों के संयोग से सामासिक पद बना कर 'रसास्वाद' जैसे प्रयोगों की परम्परा भी चली आई है जिसका समासविग्रह किया जाता है– 'रस का आस्वाद अथवा रसमय आस्वाद'।

रस सम्प्रदाय की परम्परा :

यद्यपि रस–सम्प्रदाय के आद्याचार्य भरतमुनि माने जाते हैं किन्तु उनके पूर्व भी ऐसे अनेक रसविवेचक आचार्य हो चुके है जिनका उल्लेख उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा 'नाट्यशास्त्र' में हुआ है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में 'रसाधिकारिकः नंदिकेश्वरः' की पंक्ति में नंदिकेश्वर नामक रसाधिकारि आचार्य का नाम उल्लिखित किया है जिसकी प्रामाणिकता की शोध अभी तक पूर्णतः नहीं हो सकी है।

भरतमुनि ने 'दृश्यकाव्य' की विवेचना के संदर्भ में भी 'नाट्य रस' का विवेचन किया था जो कालांतर में काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विचारणीय विषय बन गया। उन्होंने नाटक के तीन तत्त्व––'**वस्तु, नेता** और **रस**' माने हैं जिनमें रस को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। '**नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रकल्पते**' अर्थात् '**रस केबिना कोई अन्य अर्थ (तत्त्व) प्रवृत्त नहीं होता**' की पंक्ति इसका प्रमाण है। रसों और भावों की विवेचना करते हुए उन्होंने अलंकारों, गुणों और दोषों को भी रसों के आश्रित (रससंश्रय) माना है।

आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए '**रसध्वनि**' को काव्य की आत्मा कहा तो विश्वनाथ ने '**रसात्मकं वाक्यं काव्यम्**' सूत्र में रस को ही काव्य की आत्मा का अधिवास माना। मम्मट तथा उनके परवर्ती आचार्यो द्वारा रससम्प्रदाय को विशेष मताहात्मय मिला और 'रसगंगाधर' के प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'रसगंगाधर' नामक ग्रन्थ में उसे पराकोटि तक पहुँचा दिया जिसका विस्तृत और गम्भीर विवेचन आचार्य अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक ग्रन्थ में मिलता है। रीतिकालीनवादी अलंकारवादी आचार्यो को छोड़ कर रस का प्रतिपादन और समर्थन हिन्दी के आधुनिक आचार्यो ने भी किया है जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या से जुड़ा हुआ है।

रसनिष्पत्ति का सूत्र :

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति का सूत्र निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट किया है :–

'विभावानुभावाव्यभिचासरिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र में 'विभावादी' के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी गई है किन्तु प्रश्न यह है कि इनका संयोग किसे अथवा किनसे होने पर रस निष्पन्न होता है, इसका उल्लेख इसमें नहीं किया गया है।

यह उल्लेख भले न किया गया हो, किन्तु यह तथ्य भी स्पष्ट है कि उनका संयोग, आश्रय (जिसके हृदय में रस की निष्पत्ति होती है) के स्थायी भावों के साथ ही होता है जो विभावादी के संयोग अथवा सम्मिश्रण से 'रस' रूप में निष्पन्न अथवा परिणत हो जाते हैं।

भरतमुनि ने लिखा है–

'रस इति कः पदार्थः। उच्यते–आस्वाद्यत्वात्।' अर्थात् रस कौनसा पदार्थ है? उत्तर है कि वह आस्वाद्यता से युक्त है अर्थात् उसका आस्वादन किया जाता है या स्वाद लिया जाता है।

अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से तैयार किये गये अन्न को खाने वाले व्यक्ति उसके रस का स्वाद लेकर आनंदित होते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के अभिनय से व्यंजित स्थायीभावादि का प्रत्यक्ष दर्शन कर सहृदय प्रेक्षक उनसे हर्षादि की अनुभूति करते हैं जिन्हें 'नाट्यरस' कहा जाता है। यह नाट्य रस ही कालांतर में काव्यरस के रूप में विवेचित किया गया जिसकी विवेचना तो नाट्याश्रित ही रही, किन्तु उसे दृश्य दृश्य काव्य तक ही सीमित न रख कर श्रव्य काव्य के रसास्वादन के लिए सहृदय सामाजिक अथवा काव्यरस के अनुभविता सहृदय पाठकों की विशेष प्रतिष्ठा की गई जिसकी भूमिका में कवि, काव्यकृति, पाठक (काव्यरसिक) अथवा सामाजिक अपने–अपने क्षेत्रों में अपनी सापेक्षिक महत्ता के अनुसार विवेचित हुए।

रस का स्वरूप

भारतीय दर्शन में जब ब्रह्म को रसस्वरूप ब्रह्म और आनंदमय कहा गया तो काव्य का रस भी उससे हीन कोटि का कैसे माना जा सकता था? आचार्यो ने काव्यानंद को ब्रह्मनन्दसहोदर कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि वह (काव्यानंद) ब्रह्मनंदस्वरूप अद्वैतत्त्व तो नहीं है किन्तु उसके समतुल्य अवश्य है। यही कारण है कि उसे उन सभी विशेषणों से संयुक्त माना गया है जो ब्रह्मनंदसविध हैं। 'ब्रह्मनंद' तो निर्विकल्प समाधि स्वरूप है जबकि काव्यानंद सविकल्प समाधि स्वरूप। इसका अर्थ यह है कि निर्विकल्प समाधि स्थायी और शाश्वत् होती है जबकि सविकल्प समाधि कालविशेष तक ही सीमित अर्थात् मर्यादित रहती है। काव्य की रसानुभूति तभी तक होती है जब तक अनुभविता रसदशा अथवा साधारणीकरण की स्थिति में रहता है। उसके लिए विशेष क्षण नियत हैं। जिनमें अपने हृदय की सत्त्वोदेक्रमयी अवस्था रहने तक ही रसानुभूति करता है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप की विवेचना करते हुए उसे जिन विशेषणों से युक्त माना है, वे उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में उल्लिखित हैं–

सत्त्वोद्रेकः अखण्डस्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मनंदसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चिद् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

उपर्युक्त पंक्तियों में रस का स्वरूप सूत्रबद्ध किया गया है जिनका सरलार्थ इस प्रकार है–

1. **रस सत्त्वोद्रेकमय है**– सांख्यदर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका (रजोगुणी, तमोगुणी और सत्त्वगुणी) मानी गई है। इनमें सत्त्वगुण आत्मा के निर्मल स्वरूप का व्यंजक है जिसमें रागद्वेष अथवा अपने–पराये के तमोगुणी और रजोगुणी विकार नहीं रहते। रसास्वाद के लिए भी सत्त्वोद्रेक अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक की अनिवार्यता रहती है अतः उसका स्वरूप सत्त्वोद्रेकपूर्ण माना गया है।

रस अखण्ड है –रस एक प्रकार की ऐसी आनंदमयी चेतना है (टुकड़े) नहीं किये जा सकते। उसकी स्थिति विभावादी से समंजित रहती है जिनका पृथक्कीकरण सम्भव नहीं है। एक प्रकार से उसे आत्मानुभूति की अखंडता अथवा पूर्णता कहा जा सकता है।

रस स्वप्रकाशानंद है– रस आत्मा के प्रकाश के ज्योतित होता है जिसे तमोगुणी और रजोगुणी मेघ धूमिल नहीं कर सकते उसका आनंद आत्मा के आनंद से भिन्न नहीं होता, अतः उसे स्वप्रकाशानंद कहा गया है।

रस चिन्मय है–चिन्मयता आत्मा का धर्म है अतः रस आत्मस्वरूप है। उसमें शुद्ध बुद्ध आत्मा ही व्यक्त होती है और मन की मलिनता के लिए अवकाश नहीं रहता। जब तक यह अवस्था बनी रहती है, तब तक लौकिक सुखों की ऐन्द्रिय चाह अथवा लालसा नहीं होती।

वह वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है – रसास्वाद अथवा काव्यानंद की वेला में अन्य प्रकार के सभी ज्ञानों का अभाव रहता है। उस समय वेद्य अथवा संवेदनीय अनुभूति के अतिरिक्त (वेद्यान्तर) किसी भी प्रवृत्ति के स्पर्श की शून्यता अर्थात् एकमात्र आत्मपरता का भाव ही सहृदय के मन में रहता है। रसदशा में वह 'स्व' 'पर' तथा 'तटस्थ' दशा से विनिर्मुक्त हो जाता है।

वह ब्रह्मनंदसहोदर है – काव्यानंद और ब्रह्मनंद प्रायः समतुल्य अथवा एक जैसे हैं। उनमें सविकल्प और निर्विकल्प समाधि का अंतर है। ब्रह्मनंद में लीन व्यक्ति शाश्वत सुख का स्थायी अनुभव करता है जबकि काव्यानंद उसी समय तक प्राप्त रहता है जब तक उसका आस्वादयिता सहृदयजन साधारणीकरण की अवस्था में उसमें तन्मय रहता है।

वह लोकोत्तर–चमत्कार–प्राण है – रसनिष्पत्ति के क्षणों में व्यक्ति लौकिक सुखों की सीमा से ऊपर उठकर ऐसी लोकोत्तर दशा में पहुँच जाता है जहाँ विषयभोगों के इन्द्रियजनित सुखों की पहुँच नहीं होती। उसकी आत्मचेतना इतनी अधिक चमत्कारमयी होती है कि उसे अनिर्वचनीय तक कहा जा सकता है। अपनी अलौकिकता के कारण ही वह 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' मानी गई है।

वह स्वाकारवदभिन्न हैं–इसका तात्पर्य यह है कि रस स्वाकारवत् अर्थात् अपने ही स्वरूप के समान अभिन्न अर्थात् एकरूप है। उसमें और आत्मा के गुणों में कोई अंतर नहीं रहता। रसदशा में पहुँच कर आस्वद और आस्वाद्य एक हो जाते हैं अर्थात् विषय और विषयी में कोई अंतर नहीं रह पाता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियाँ मानी हैं– 1. विषयानंद 2. ब्रह्मनंद और 3. काव्यानंद।

विषयानंद' में लौकिक सुखों की गणना होती है जो चैतन्याभास से आभाषित अंतःकरण की वृत्तियों के विषयों के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है। यह सुख इन्द्रियजनित उपकरणों का सुख है।

ब्रह्मनंद' में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश हो जाता है और केवल चैतन्यस्वरूप का भाव हीब्रह्मनंद में लीन रहता है।

'काव्यानंद' में रत्यादि भावों की उपाधि बनी रहने के कारण वह सोपाधिक अवश्य होता है किंतु उसमें भी चैतन्य स्वरूप ही आभासित रहता है; अतः वह लौकिक सुखों से भिन्न और ब्रह्मनंद की तुलना में अस्थायी है। विश्वनाथ ने रसविषयक जिन आठ गुणों का उल्लेख अपने सूत्रों में किया है, वे सब काव्यानंद की स्थिति और अनुभूति ही व्यक्त करते हैं।

रस का अधिवास :

मूलतः रस सहृदय जैन के चैतन्य में अधिष्ठित रहता है जो सरस काव्यकृतियों से जुड़कर उसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाता है जिस प्रकार काष्ठ (लकड़ी) में अंतर्निहित अग्नि बाहर की अग्नि से सम्पृक्त होकर उछीप्त हो जाती है। उसे उछीप्त करने अथवा जगाने की क्षमता बाहर की चिनगारियों में अवश्य होनी चाहिए तथा काष्ठ में भी उसे ग्रहण करने के गुणों का समावेश रहना चाहिए।। इसी उदाहरण की भाँति आवश्यक है कि काव्यरस के आस्वादयिता के अंतः करण में भी सत्त्वोद्रेकता के वे सभी तत्त्व समाहित होने चाहिये जिनसे वह रस के उपायन रूप में प्रस्तुत काव्यकृति का अर्थबोध करते हुए उसके व्यंग्यार्थ तक पहुँच सके। अमिधा से व्यंजना (ध्वनि) तक पहुँचने के बीच में विभावन—व्यापार अथवा 'साधारणीकरण' सेतु का काम करता है। जब तक आस्वादयिता का अंतःकरण साधारणीकृत नहीं होता तब तक वह काव्यकृतियों में अभिव्यंजित संवेदनाओं के साथ अपना तादात्मय नहीं कर सकता। इस कार्य में काव्यकृति की रसोद्रेककारिणी क्षमता और काव्यरसिक की ग्राहिका शक्ति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं। दोनों में विषयी—विषय—भाव का सम्बन्ध रहता है। भट्टनायक ने रसनिष्पत्ति के लिए 'विषयवस्तु' की उदातत्ता को अधिक महत्व दिया है तो अभिनवगुप्त ने कवि की प्रतिभा अथवा सृजनशक्ति को विशिष्ट गुरुता प्रदान की है। उनके मतानुसार कवि की प्रतिभा में ही ऐसी निर्माणशक्ति निहित रहती है जिसके बल पर वह सामान्य विषयों को लेकर भी असाधारण काव्य की रचना कर सकता है। 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' कहना सत्य का एक पक्ष अवश्य है, किन्तु 'कोई कवि बन जाय, सम्भाव्य है' कि उक्ति पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः 'रसनिष्पत्ति' कराने के लिए कवि की कृति की ही प्रधानता रहती है जो लोकहृदय के साथ रमकर अपना एक ऐसा विशाल और भव्य आकार धारण कर लेती है जिसमें अधिक से अधिक सहृदयजनों को रसलीन करने की क्षमता रहती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस रससागर में निमग्न होना अथवा उसका आनन्द उठाने के लिए आस्वादयिता का मानस भी तदनुरूप समक्ष होना चाहिए। इस प्रकार 'कवि', 'काव्य', और 'रसिक' ये तीनों एक ही प्रकार की मानसिकता में तल्लीनता पाकर रस की आनंदवस्था का 'त्रिक्' अथवा 'संगम' स्थापित कर सकते हैं।

रस का अधिवास अथवा निवास कहाँ है, यह एक अत्यंत ही जिज्ञासापूर्ण प्रश्न है। भरतमुनि ने अपने रसनिष्पत्तिसूत्र में रस के जिन अवयवों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) को लेकर उनके संयोग से रसनिष्पत्ति होने की जो बात कही है, वह मूलतः 'नाट्य रस' से ही सम्बन्धित है। इसका अभिप्राय यह है कि जब आश्रय के

हृदय में अवस्थित सुषुप्त स्थायी भाव का संयोग विभाव अथवा रस के 'आलंबन' के साथ होता है तो वह आलंबन की चेष्ठाओं तथा अनुकूल वातावरण और परिस्थिति से उछीप्त होकर रसदशा की और आगे बढ़ता है जिसके अंतराल में अनेक प्रकार के अनुभाव उसकी शारीरिक और मानसिक अंतर्दशाओं की अनुभूति के प्रभावजन्य लक्षण प्रकट करते हुूए उसे रसक्षेत्र की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। इस यात्रा में उसके मन में क्षणिक स्थिति वाले अनेक प्रकार के व्यभिचारी अथवा ससंचरणशील भाव की उत्पन्न होते और मिटते रहते हैं, किन्तु वसे स्थायीभाव के प्रभुत्व को क्षीण तथा विलीन नहीं कर सकते। आश्रय के हृदय का स्थायी भाव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ अपनी प्रधानता बनाये रखता है जो रस के सभी अवयवों से संपुष्ट होकर अंततोगत्वा रस रूप में निष्पन्न अथवा परिणत हो जाता है। इसस प्रकार स्थायी भाव की यह निष्पादित परिणति ही 'रस' नाम से जानी जाती है।

रससूत्र के प्रमुख तथ्य :

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति सूत्र के द्वारा जो तथ्य उजागर किये गये हैं, उनसे 'रस के अधिवास' के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

रस का मूल अधिवास तो उन मूल पात्रों (दुष्यंत और शकुंतला आदि) के हृदय में माना जाना चाहिए जिनका अभिनय अभिनेताओं (नट और नटी आदि) द्वारा किया जाता है। अपनी अभिनयकला अथवा नाट्यनिपुणता के कारण वे उन्हें हूबहू अथवा असली रूप में अभिनीत करने की चेष्ठा करते हैं जिसके लिए उनकी मानसिकता में भी तद्रुपता सी आ जाती है। इस तद्रुपता में वे भी स्वयं को मूल पात्र समझने के भ्रमवश उन्हीं के समान भावों का आरोपण अपने भीतर करने लगते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि उनकी मानसिकता से भी रस का सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से यत्किंचित् रूप में उनके हृदय में भी रस का अधिवास मान लिया जाता है। यदि वे मूल पात्रों के साथ तद्रुपता की अनुभूति न कर सकें तो उनके अभिनय में वांछित कला अथवा निपुणता नहीं आ सकती।

रस की निष्पत्ति अथवा उसके अधिवास का एक प्रमुख बिन्दु दर्शक अथवा प्रेक्षक की मानसिकता के साथ जुड़ा रहता है। अभिनेताओं के कुशल अभिनय से चमत्कृत होकर सहृदय प्रेक्षक उनमें मूल पात्रों की परिकल्पना का अनुमान 'चित्रतुरंगन्याय' से कर लेते हैं जिसके कारण उन्हें मूल पात्रों और अभिनेताओं में उल्लेखनीय अंतर नहीं लगता है। वे अभिनेताओं को ही मूल पात्र समझ कर उनके सुखःदुःख में समानुभूति सी करने लगते हैं जिसके साथ उनके हृदय की संवेदनाएँ सहज भाव से जुड़ जाती हैं और उन्हें भी रस की अनुभूति होने लगती है, भले ही उसकी मूल उत्पत्ति मूल पात्रों के हृदय में ही क्यों न रही हो।

चूंकि नाटक अथवा दृश्य काव्य का एक प्रमुख प्रयोजन दर्शकों अथवा सामाजिकों का मनः प्रसादन करना होता है, अतः रस के अंधिवास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष उनकी मानसिकता से भी अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि जब दर्शक मंच पर अभिनीत किये जाने वाले नाटक आदि देखते हैं तो सबसे पहले तो वे अमिधा शक्ति द्वारा उनका अर्थबोध करते हैं, तदनंतर वे विभावन—व्यापार द्वारा उनके साथ अपने हृदय का साधारणीकरण करते हैं। उस साधारणीकरण की मनः स्थिति में वे स्वयं को मूल पात्र समझने के भ्रमवश अभिनीत कला के साथ अपने चित्त का सामंजस्य करते हैं। सामंजस्य की यह स्थिति जब तक बनी रहती है, वे 'स्व' और 'पर' अर्थात् अपने और पराये की भावना भूल कर ऐसा

समझने लगते हैं जैसे वे ही मूल पात्र हैं जिनका अभिनय उनके सामने किया जा रहा है।। तदनंतर एक ऐसी अनिर्वचनीय स्थिति आ जाती है जब वे साधारणीकरण के क्षेत्र से आगे बढ़ कर रस की भुक्ति अथवा 'भोग' करने लगते हैं। इस प्रकार 'रस का अधिवास' सहृदय सामाजिकों की मानसिकता से स्वतः ही नैसर्गिक रूप में जुड़ा हुआ मान लिया जाता है।

रस के अधिवास' का प्रश्न कवि अथवा काव्यप्रणेता की मानसिकता से तो सब से अधिक जुड़ा हुआ है क्योंकि अपनी सर्जना का जो सुख उसे मिलता है, वह किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मिल सकता। इसके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम अपनी विरच्यमान कृति के प्रकृत विषय के साथ अपना तादात्मय स्थापित करे तदुपरांत अपनी प्रतिभा के बल पर उसे एक ऐसी निर्मिति प्रदान करे जो आत्मसुख का हेतु हो ही, किंतु उसके साथ–साथ उसमें ऐसे गुणों का भी समावेश रहे जो लोकमानस का भी चित्तानुरंजन कर सके। उसकी सर्जना के मूल में आदिकवि वाल्मीकी की 'रामायण की रचना' जैसी किसी ऐसी महत्वपूर्ण घटना की दिव्य प्रेरणा भी संयोजित रह सकती है जो उसे करुणाविगलित कर सृजन के प्रति उन्मुख करने की शक्तिप्रदात्री हो सकती है। उसका वह सृजन 'स्वांतः सुखाय' होकर भी 'सर्वजनहिताय' हो सकता है। सृजन का वह सुख ही उसके लिए रसानुभूति का सुख अथवा आनन्द है, अतः कवि का मानस भी रस का अधिवास माना जाता है जो अपनी संवेदनाओं की रश्मियाँ बिखेर कर सहृदय मात्र को आनंदित करता है।

निष्कर्ष यह है कि 'रस का अधिवास' निम्नलिखित बिन्दुओं के सन्दर्भ में ही निरूपित किया जाना चाहिए जो निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्षिकता से जुड़े हुए हैं–

दार्शनिक दृष्टि से आत्मचैतन्य ही रस का मूल अधिवास है जो सफल काव्यरचना से झंकृत होकर स्वतः ही अपने आनंदमूलक स्वरूप की अनुभूति करता है।

स्रष्टा के रूप में कवि का प्रबुद्ध शुद्ध अन्तःकरण ही रस का अधिवास है जो अपनी लोकोत्तर सर्जना से अभिभूत होकर आत्मसुख की अनुभूति करता हैं।

समाजिकता की दृष्टि से सहृदय सामाजिक का मुक्त हृदय की रस का अधिवास है जो काव्यकृति में अभिव्यक्त भावनाओं के साथ अपना साधारणीकरण करता हुआ उनके साथ आत्म–साक्षात्कार की सी अनुभूति करता है जिसके कारण उसमें सत्त्वोदेक्रमयी जागृति उत्पन्न होती है।

दृश्य काव्य के अभिनय की दृष्टि से 'रस का अधिवास' अभिनेताओं में भी मान लिया जाता है जो मूल पात्रों की तद्रुप अनुकूति करते हुए भावविभोर हो उठते हैं और यह उनकी भावविभोरता ही उनके हृदय में रस के अधिवास की संभावना का हेतु कहा जा सकती हैं।

एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण काव्य के मूल पात्रों में ही रस का अधिवास मानता है किन्तु यह मान्यता व्यवहारसंगत नहीं है क्योंकि जो मूल पात्र अतीतत के गर्भ में विलीन हो गये हैं, उनकी रसदशा से वर्तमान की प्रयोजनियता हो ही क्या सकती हैं ? उनकी रसानुभूतियाँ तो उन्हीं तक सीमीत थी जो उनके साथ ही नष्ट हो गयी, अतः उसके वर्तमान और भविष्य से क्या लेना–देना?

उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए यही निर्णय करना उचित प्रतीत होता है कि काव्यरस का प्रधान सम्बन्ध उसके प्रणेता अथवा अधिकारी आस्वादयिता से ही है जो

प्रथमतः कृति का रससिद्ध सर्जक होने के साथ–साथ उसका प्रथम भावक (आस्वादयिता) भी होता है। कारयित्री प्रतिभा यदि उसके सृजन की हेतु होती है तो भावयित्री प्रतिभा उसके आस्वादन की प्रक्रिया में प्रमुख उपादान बनती है। उसकी रचना चाहे प्रबंधकाव्य की विधा में निर्मित हो अथवा मुक्तक काव्य की प्रगीतपद्धति की अनुगामिनी हो, दोनों की स्थितियों में वह रसप्रतीति का आधार हो सकती है। अंतर इतना ही है प्रबंधकाव्य के पात्रों के कार्यकलापों और चरित्रों के माध्यम से वह साधारणीकृत पात्रों की परिकल्पना करता हुआ उनसे रसबोध करता है जो परोक्ष से प्रत्यक्ष की और उन्मुख होता है जबकि मुक्तक काव्यों के माध्यम से वह उनकी मनोवृत्तियों के साथ सीधा सम्पर्क साध लेता है।

कुल मिलाकर काव्यकृति ही रस का उपायन अथवा साधन है जिसमें चित्रित विभावों, अनुभावों और संचारी भावों का साधारणीकरण करता हुआ उसका सहृदय पाठक उसके साथ अपनी संवेदनाओं का तालमेल जमाता है और इस प्रक्रिया में काव्य कमा अर्थबोध, विभाजन व्यापार और भोजकत्व ये तीनों प्रमुख सोपान रहते हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि आश्रय के हृदय में अवस्थित स्थायी भाव जब काव्यवर्णित विभावों, अनुभावों और संचारी भावों से प्रत्सक्षतः आत्मसाक्षात्कार करते हुआ उन्हे अपने सत्त्व में समाहित कर लेता है तो वह अनायास ही रस रूप में परिणत हो जाता है। काव्य द्वारा होने वाली इस प्रतीति की यही रहस्यमयता है जिसे समझने के लिए अधिक ऊहापोह करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

रसनिश्पत्ति के अवयव या अंग :

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति के सूत्र में उसके तीन प्रमुख अंग या अवयव निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार हैं– 1. **विभाव** 2. **अनुभाव** और 3. **व्यभिचारी भाव।**

संचारी (व्याभिचारी) भाव :

भरतमुनि ने अपने 'रसनिष्पत्ति' सूत्र में 'व्यभिचारी' के नाम से जिन भावों का संकेत किया था, वे कालांतर में संचारी के नाम से अधिक प्रचलित और प्रयोगगत हो गये। वस्तुतः ये दोनों ही शब्द समानार्थवाची हैं। 'व्यभिचारी' शब्द वि + अभिचारी से बना है जिसका अर्थ है विशेष रूप से अभिचरण करने वाला । 'संचारी' का अर्थ संचरणशील होता है। 'अभिचरण' और 'संचरण' शब्दों में केवल उपसर्गो (अभी और सम्) की भिन्नता है जबकि मूल शब्द 'चरण' दोनों में प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में 'व्यभिचारी' के स्थान पर 'संचारी' शब्द का प्रयोग अधिक शिष्ट और सांस्कृतिक माना जा सकता है क्योंकि व्याभिचारी शब्द का प्रयोग (हीन अर्थ में) ऐसे व्यक्ति के लिए भी किया जाता है जो दुराचारी अथवा लम्पट हो। अस्तु, इन दोनों में से किसी भी शब्द को स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त करने के लिए सभी व्यक्ति स्वतंत्र है क्योंकि दोनों ही शब्द संचरणशील भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।

व्यभिचारी अथवा संचारी भाव संचरणशील अथवा अस्थिर मनोवृत्तियों के द्योतक हैं। वे स्थायी भावों की तुलना में कम समय तक टिकते हैं। उदाहरण के लिए श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है जिसकी स्थिति रसनिष्पत्ति पर्यन्त स्थिर या स्थायी बनी रहती है किन्तु उसके बीच–बीच में ऐसे अनेक छोटे–छोटे और क्षणिक भाव आश्रय (रस का आस्वादयिता) के मानस में उत्पन्न और मिटते रहते है जिनसे रति भाव तो पुष्ट होता हैं किन्तु वे मेघाछन्न आकाश में बिजली की भाँति अपनी चमक दिखाकर लुप्त हो जाते हैं अथवा पानी के बुलबुले की भाँति उठते और मिटते चते हैं। अपनी चंचलता

अथवा संचरणशीलता के कारण ही वे संचारी भाव कहलाते हैं। इस प्रकार के भावों से कभी हर्ष–विवाद, कभी लज्जा–चिंता और कभी उत्सुकता अथवा षंका व्यक्त होती है किन्तु उनका प्रकटीकरण स्थायी भावों के उपचय में बाधक नहीं बनता।

यहाँ एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि परिस्थिति विशेष में स्थायी भाव भी अपने मूल (नियत) रस से हटकर अन्य रसों में भाव बन जाता है। जैसे रति और शोक भाव क्रमशः श्रृंगार और करुण रस से निकल कर अन्य रसों में संचारी भाव के भी रूप धारण कर लेते हैं। अतः उनके विषय में कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रसंगवश एक ही संचारी भाव अनेक रसों में संचारी बन कर आ सकता है। उदाहरण के लिये 'चिंता' और 'शंका' जैसे संचारी भाव श्रृंगार, करुण वीर और भयानक रसों में प्रायः एक ही अधिकार के समान प्रयुक्त किये जा रहे हैं।

संचारी भाव को स्थायी भाव के सहकारी कारण भी कहते हैं। वे मन की स्थिति विशेष से उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् अर्थात् स्थायी भाव को उचित सहयोग देकर विलीन हो जाते हैं, इसलिए उन्हें पानी के बुलबुलों अथवा बिजली की चमक से उपमा दी गई है।

अलङ्कार सम्प्रदाय

भामह इसके प्रवर्तक हैं; उद्भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्द्रराज जयदेव आदि प्रबल सामर्थक हैं। इस प्रस्थान में अलंकार ही काव्य का मुख्य उपादान तथा संज्ञाप्रयोजक है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा कि जो विद्वान् अलंकार–रहित शब्दार्थ को काव्य कहता है, उसे अग्नि को अनुष्ण कहने में भी संकोच नहीं होगा। स्पष्टतः यह मम्मट पर व्यङ्ग्य है। आनन्दवर्धन के आविर्भाव के पूर्व तक सभी आचार्य काव्य में अलंकार की प्रधानता मानते रहे थे। कुछ लोग बाद में भी यही मत धारण किये रहे। इस प्रस्थान का महत्त्व 'शास्त्र' को 'अलङ्कार शास्त्र' कहे जाने से भी स्पष्ट होता है। सभी आचार्यो ने अलंकारों पर विचार किया तथा इनकी संख्या भी वे बढ़ाते गये। भरत के द्वारा प्रतिपादित चार अलंकार (उपमा, रूपक, दीपक और यमक) बढ़कर 13 वी. शताब्दी तक संख्या में प्रायः 150 तक पहुँच गये। टीकाओं में अलंकार का स्पष्टीकरण आवश्यक समझाया गया; अन्य उत्कृष्ट उपादानों पर दृष्टि शून्यप्राय रही।

कतिपय अलंकारों (रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित) मे रसतत्त्व का अन्तर्भाव किया गया। अलंकार का अर्थ सौन्दर्य उपकरण है (अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः); चाहे जिस साधन से सौन्दर्य आये वह साध नही अलंकार है। शनैः शनैः अलंकार को शोभाधायक (सौन्दर्यधारक) पद से सौन्दर्य–वर्धक पद पर उतार दिया गया, शोभाधायक तो कुछ दूसरा ही उपादान होगा – ऐसी मान्यता विकसित हुई। जैसे वामन ने गुण को शोभाधायक और अलंकार को शोभावर्धक कहा। ध्वनिवाद में अलंकार बाह्यधर्म माने गये जैसे शरीर पर आभूषण। उनके बिना भी काव्य हो सकता था यदि रस या ध्वनि विद्यमान हो। फिर भी यथासाध्य रस के उपकारक रूप में रचना में अलंकारों का अनायास आगमन हो तो उचित है (अपृथग्यत्नकनिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारों ध्वनौ मतः, ध्वन्यालोक 1/17)। परिश्रम से लाया गया अलंकार चित्र काव्य में हो सकता है, अन्य काव्यों में उद्वेग उत्पन्न करता है। इसलिए कवि इस स्थिति से बचे। इस स्थिति में अलंकार को काव्य का प्रधान तत्त्व या आत्मा कहना हास्यास्पद है।

अलंकार का अर्थ और उसका काव्यगत महत्त्व :

'अलंकार' शब्द 'अलं' तथा 'कार' शब्दों के योग से बना है जिसका अर्थ है अलंकृत तथा शुशोभित करने वाला। संज्ञा शब्द के रूप में इसका अर्थ है आभूषण अथवा गहना। 'काव्य' के साथ इस शब्द का प्रयषेग करने से 'काव्यालंकार' समास बनता है जिसका अर्थ होता है काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म।

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है –

1. 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु या विषय अलंकृत किया जाता है, वह अलंकार है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार एक 'उपादान' या 'करण' है जो किसी को अलंकृत करता है। इसमें वस्तु और अलंकार की पृथक्ता सिद्ध होती है।

2. 'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करता है, वह अलंकार है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार वस्तु का अंग अथवा शोभावर्द्धक धर्म सिद्ध होता है जिससे वस्तु का सौन्दर्य निरखता है।

काव्य में अलंकार का महत्त्व प्रारम्भ ही से सुमान्य रहा है। इसे उस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार अलंकारों (आभूषणों) को धारण करने से किसी रमणी की सुन्दरता और शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार काव्य अथवा कविता में भी अलंकारों का प्रयोग करने से उसके शब्दों तथा अर्थों में चमत्कार आता है और उनकी शोभावृद्धि होती है। आवश्यकता इस बात की है कि अलंकारों का प्रयोग यथास्थान उचित विधि से होना चाहिए ताकि वे कविताकामिनी के सौन्दर्य में चार चाँद लगा सकें और उसके लिए व्यर्थ का बोझ न बनें। उनके द्वारा प्रस्तुत अथवा वर्ण्य विषय में विशेषता, सजीवता, सुन्दरता और अभिव्यक्तिगत कलात्मकता आनी चाहिए जिससे उसका वस्तुविधान अप्रस्तुतवर्णन द्वारा अधिकाधिक सरस और कांतिमय बन सके। अलंकारों की सही उपयोगिता और प्रयोजनिता ही इस तथ्य में निहित है।

काव्यरचना से अलंकारों का अटूट सम्बन्ध प्रारम्भ ही से सुमान्य रहा है। वैदिक साहित्य में उन्हें वाणी की शोभा अथवा अलंकरण माना गया है। ऋग्वेद के ऊषस् सूक्त में वाणी की महिमा जिस रूप में व्यक्त की गई है, वह अनेक प्रकार के अलंकारों अर्थात् (रूपक, उपमार, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा आदि) से अभिमंडित है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भी उपमा, रूपक, दीपक, और यमक संज्ञक अलंकारों का उल्लेख हुआ है। भामह का 'काव्यालंकार' तो मुख्यतः अलंकार–निरूपण का ही ग्रंथ है जिसमें चालीस से अधिक अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। उनके परवर्ती आचार्यो की श्रेणी में दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक आदि आचार्य आते हैं जिनका अलंकारविवेचन अत्यंत प्रौढ़ और विस्तृत है। अलंकारविवेचन की यह परम्परा अलंकारवादी आचार्यो के ग्रंथ से ही नहीं अपितु रसध्वनिवादी आचार्यो के मान्यताओं के साथ भी जुड़ती हुई आगे बढ़ती चली है जो पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' की सीमाओं को लांघ कर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों तक अपना विराट् स्परूप दिखाती चली है।

काव्य में अलंकारों का महत्व और वर्चस्व इस तथ्य द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है कि किसी समय काव्यशास्त्र को 'अलंकाशास्त्र' के नाम से भी अभिहित किया जाता था। भामह ने तो 'न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखं' की पंक्ति द्वारा यही सिद्ध किया है कि जिस प्रकार नारी का मुख सुंदर होते हुए भी अलंकारों (आभूषणों) के

बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुंदर काव्यरचना के लिए भी अलंकारों की अपेक्षा रहती है। अलंकारविहीन रचना को तो भामह 'वार्तामात्र' मानते थे। उन्होंने अलंकार (अप्रस्तुतविधान) और अलंकार्य (काव्य का प्रस्तुत वर्ण्य विषय) में कोई अंतर नहीं माना। उनका कहना था कि अंकार के मूल में वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति निहित रहती है जो अपनी वक्रतापूर्ण उक्तियों अथवा अतिशयतापूर्ण कथनों द्वारा 'वार्ता' को काव्यकृति के रूप में बदलती है। उनके बिना काव्य में 'लोकातिक्रांतगोचरता' अर्थात् लोककथन को लांघने वाली विचित्रता आ नहीं सकती। वे स्वाभावोक्ति को भी अलंकार की परिधि में समेटते चले हैं जिसका तात्पर्य यह है कि अलंकार ही काव्य के सर्वस्व हैं।

भामह के पश्चात् दण्डी ने भी अलंकारों काव्य को शोभा कारक धर्म माना है जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि का धर्म उष्णता है उसी प्रकार काव्य का धर्म उसकी अलंकृति है जिसे धर्मी (काव्य) से पृथक् नहीं किया जासकता। न दोनों में समवाय सम्बन्ध है। उन्होंने अलंकारों के सम्मुख रस की भी प्रधानता स्वीकार नहीं की और रस को भी 'रसवत् अलंकार' के नाम से विवेचित करना उचित समझा। दण्डी के मतानुसार सम्पूर्ण वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्त के नाम से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है जिनमें क्रमशः शास्त्र और काव्य परिगणित होते हैं। उनका कहना है कि वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति के बिना काव्य में सौन्दर्य आ ही नहीं सकता क्योंकि ये दोनों काव्य के मूल तत्त्व हैं जिन पर अलंकरों का भव्य भवन आधारित है।

अलंकारों की काव्यगत महत्ता का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्रीयों का अत्यंत प्रिय और रुचिकर विषय रहा है। अग्निपुराण में तो 'अलंकारहिता वीणा विधवेव सरस्वती' तक कहा गया है जिसका अर्थ है कि अलंकारों के बिना की गई काव्यरचना एक प्रकार से विधवारूपिणी सरस्वती है। कुंतक ने तो 'वक्रोक्ति' को अलंकार मात्र न मानकर 'वक्रोक्तः काव्यजीवितम्' के सूत्र द्वारा परिभाषित किया जिसके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है जो 'वैदग्ध्यभंगिभणिति' अर्थात् विदग्धतापूर्णभंगिमा के रूप में अपना वाक्चातुर्य प्रकट करती है। उन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार्य और वक्रोक्ति को अलंकार मात्र का लक्षण माना है जो तात्त्विक दृष्टि से होने पर भी प्रयोगिक अथवा 'व्यावहारिक' दृष्टि से भिन्न–भिन्न हैं। आचार्य उद्भट भी अलंकारों को काव्य का अभिन्न अंग मानते हैं और कुंतक की भाँति 'सालंकार काव्यता' सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। उनके मतानुसार गुण और अलंकार–दोनों ही काव्य के चारुत्व के कारण हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में आचार्य भोजराज ने काव्यकृति के चमत्कार और शोभावर्द्धन का मूल धर्म स्वीकार करते हुए उनकी काव्यगत महत्ता और अनिवार्यता का समर्थन करते हैं। आचार्य जयदेव ने तो अपने 'चन्द्रालोक' नामक ग्रंथ में यहाँ तक लिखा है कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकारों के बिना मान्यता देता है, वह आग को भी शीतल कह सकता है–

अंगीकरोति यः काव्यं, शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मान्यते कस्माद, अनुष्णमनलंकृती।।

रसवादी आचार्यो को भी अलंकारों की महत्ता स्वीकार्य रही है।आचार्य आनंदवर्धन विश्वनाथ, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने रस और ध्वनि तत्त्व को काव्य की मानता मानते हुए भी अलंकारों की आपेक्षिक गुरुता समर्थित की है। मम्मट का काव्यलक्षण भी अलंकारों का गौण महत्त्व स्वीकार करता चला हैऔर वे अनुप्रास और उपमा आदि अलंकारों को 'हार' और 'कुण्डल' के रूप में काव्य के शोभावर्द्धक धर्म

मानते हैं। विश्वनाथ ने अलंकारों को काव्य के शब्दों तथा अर्थो के 'शोभातिशायी असिथर धर्म' माना है जिनकी स्थिति अंगद (बाजूबंद) आभूषण की भाँति है तथा जो काव्य के आत्मतत्त्व रस का उपकार करते हैं। आनंदवर्द्धन ने अलंकारों को काव्य की शोभामात्र माना है तथा पंडितराज जगन्नाथ भी इन्हें एक सीमा तक ही काव्य की शोभा का कारण (हेतु) कहते हैं।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो ने तो अलंकारों की उत्कृष्टता सिद्ध करने में तो कोई कमी नहीं रखी। आचार्य कवि केशव ने तो अलंकारों के बिना काव्य को पूर्णतः शोभाविहीन ही सिद्ध कर दिया। आधुनिक काल में भी अलंकारों का सापेक्षिक महत्व तो स्वीकार किया गया, किन्तु शनैः शनैः उन्हें कथ्य की प्रणाली विशेष ही कह कर उन्हें छोड़ दिया गया। हमें यहाँ उनका गम्भीर और व्यापक विश्लेषण और विवेचन करना अभिष्ट नहीं है अतः उनकी काव्यगत स्थिति की सामान्य जानकारी मात्र यहाँ कराई गई है।

अलंकारों के भेद

अलंकारों के प्रमुख तीन भेद हैं– 1. शब्दालंकार, 2. अर्थालंकार, 3. उभयालंकार।

शब्दालंकार – जहाँ काव्य के शब्दों में चमत्कार होता है, वहाँ शब्दालंकार होते हैं। यदि उन शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्द रख दिये जायँ तो वह चमत्कार नष्ट हो जाता है। अतः शब्दगत प्रधानता के कारण ही उन्हें शब्दालंकार कहा जाता है। जैसे अनुप्रास, यमक आदि।

अर्थालंकार – जहाँ काव्य के अर्थो में चमत्कार पाया जाता है, वहाँ अर्थालंकार होते हैं। यदि शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्द रख दिये जायँ तो भी अर्थो में चमत्कार बना रहता है। जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार।

उभयालंकार – जहाँ काव्य के शब्दों और अर्थो इन दोनों में चमत्कार पाया जाय, वहाँ उभयालंकार होते हैं। इनकी संख्या बहुत कम है।

24.4 सारांश

इस इकाई में आप संस्कृत साहित्य में रस एवं अलंकार के महत्त्व के विषय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है रस' अथवा 'आनन्द' शब्द भिन्न भिन्न वस्तुओं अथवा प्रसंगों से जुड़ कर भिन्न–भिन्न रूपों में अपना आस्वाद व्यक्त करते हैं। पदार्थो के साथ जुड़कर वे रसनेन्द्रिय (जीभ) के माध्यम से कषाय (कषैला), तिक्त (तीखा), कटु (कड़वा), लवण (नमकीन), अम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा) आदि स्वादों को प्रकट करते हैं। आयुर्वेद में भी औषधियों के रूप में रसों की विवेचना की गई है। इन्द्रियों के संसर्ग से मिलने वाले रस विषयसुखों के नाम से जाने जाते हैं तो आध्यात्मिक क्षेत्र में जानकर वे 'ब्रह्मनंद' की कोटि तक पहुँचा दिये गये हैं जिनका क्षेत्र निश्चय ही अलौकिक और इन्द्रियसुखों से परे का क्षेत्र है। वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'रस' शब्द का अनेक प्रसंगों में हुआ है। बोलचाल में भी 'रस' शब्द का प्रयोग दैनिक जीवन में प्रायः किया जाता है। 'गन्ने के रस' से लेकर बातों के रस की बात निरंतर दोहराई जाती है। अलंकारों की काव्यगत महत्ता का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्रीयों का अत्यंत प्रिय और रुचिकर विषय रहा है। अग्निपुराण में तो 'अलंकारहिता वीणा विधवेव सरस्वती' तक कहा गया है जिसका अर्थ है कि अलंकारों

के बिना की गई काव्यरचना एक प्रकार से विधवारूपिणी सरस्वती है। इस इकाई में इन सबका वर्णन किया गया है

24.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
'विभाव	विभाव
अनुभाव	अनुभाव
व्यभिचारि	व्यभिचारि
संयोगाद्	संयोग से
रससनिष्पत्तिः	रस की निष्पत्ति

24.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज।

3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला,चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

24.7 बोध प्रश्न

1) रस का सामान्य परिचय कीजिये

2) अलंकार का अर्थ और उसका काव्यगत महत्त्व का वर्णन कीजिये

3) अलंकारों के भेद का वर्णन कीजिये

24.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2) पुस्तक का नाम– वैदिक साहित्य, लेखक का नाम– कपिलदेव द्विवेदी, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।

इकाई 25 रीति सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इकाई की रुपरेखा

25.0 उदेश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप

- संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में रीति का परिचय दे सकेगें।
- सम्प्रदाय के रूप में रीति सम्प्रदाय और उसके प्रवर्तक आचार्य वामन का उल्लेख कर सकेंगे।
- काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में वक्रोक्ति को माना गया इसका उल्लेख कर सकेंगे।
- वक्रोक्ति सम्प्रदाय की सभी मान्यताओं का परिचय दे सकेंगे।
- संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक के योगदान का वर्णन कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है। काव्यशास्त्र के तत्व वैदिक काल से प्राप्त किये जाते हैं, क्योंकि अलंकारिक वर्णन ऋग्वेद में मिलते हैं। काव्यशास्त्र के कुल छः सम्प्रदाय माने गये हैं–

1) ध्वनि सम्प्रदाय
2) अलंकार सम्प्रदाय
3) रस सम्प्रदाय
4) रीति सम्प्रदाय
5) औचित्य सम्प्रदाय
6) वक्रोक्ति सम्प्रदाय।

सम्पूर्ण काव्यशास्त्र परम्परा में विभिन्न सम्प्रदायों का इसलिए उदय हुआ कि काव्य की आत्मा के अन्वेषण के विषय में विभिन्न आचार्यों ने भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। यद्यपि ध्वनि के प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मट ही रहे किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में

इसे ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने माना। अलंकारवादी आचार्यों में मम्मट भी हैं। इनके अतिरिक्त दण्डी, जयदेव, भामह आदि सभी अलंकारिक आचार्य हैं। वस्तुतः रस सम्प्रदाय आचार्य भरतमुनि से प्रारम्भ होता है किन्तु आगे चलकर रसवादी आचार्यों में शंकुक, लोल्लत, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि प्रमुख हैं। रीति गुण है जिसके प्रधान आचार्य वामन हैं। काव्य में वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में प्रतिष्ठा देने वाले आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति के अधिष्ठाता हैं। इसी प्रकार सेमेन्द्र ने औचित्य सम्प्रदाय का पल्लवन किया जिसका ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा है।

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में रीति सम्प्रदाय के अधिष्ठाता वामन और वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक के योगदानों का भलीभांति उल्लेख कर सकेंगे।

25.2 रीति–सम्प्रदाय

काव्यशास्त्रीय मान्यताओं में काव्य के शरीर के निर्माण से लेकर उसकी आत्मा तक का विचार किया गया है। काव्यशास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में भारतीय दर्शन की भांति आत्म तत्व का चिंतन प्रधान रहा है। मनुष्य की भाँति ही काव्य के भी शरीर की कल्पना की गई जिसमें पद–रचना, वाक्य–रचना से लेकर छन्द–रचना तक ही यात्रा में काव्य के शरीर का संवर्धन किया गया। किन्तु केवल शरीर से सृष्टि में किसी भी वस्तु का संचालन नहीं हो सकता जबतक उसमें शक्ति का सूत्रपात न हो। वही शक्ति प्राणशक्ति है, उसी में आत्मशक्ति का विचार किया जाता है। आचार्यों ने काव्यपुरुष के शरीर में आत्मशक्ति की स्थापना जिस शास्त्र में किया है उसी शास्त्र का नाम काव्यशास्त्र है। इस क्रम में आपने पूर्व की इकाइयों में इस और अलंकार सम्प्रदाय का अध्ययन कर लिया है। इसके पश्चात् आप इस इकाई में क्रमशः वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों का अध्ययन करने जा रहे हैं। सर्वप्रथम आप रीति–सम्प्रदाय का परिचयात्मक अध्ययन कीजिए।

रीति–सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य वामन हैं, इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है– ''रीतिरात्मा काव्यस्य।''

पहले रीति की परिभाषा जानना आवश्यक है। रीति का लक्षण करते हुए बताया गया है–

''विशिष्टापदरचना रीतिः। अर्थात् विशिष्ट पदों की रचना रीति कहलाती है।

रचना में यह विशेषता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। अतः कहना पडेगा कि काव्य में जिस रीति की बात की जा रही है वह काव्य के गुणों पर ही अवलम्बित रहती है। रीति–सम्प्रदाय को इसीलिए गुण–सम्प्रदाय भी कहा जाता है। वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीतियाँ होती हैं जो विदर्भ में होती हैं उसे वैदर्भी तथा गोण देश में होने वाली गौणी कही जाती है। इनके अन्तर का वर्णन आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में किया है। पांचाली रीति का प्रयोग करने वाले प्रसिद्ध आचार्य कवि बाण हैं। रीति के प्रवर्तक वामन ही वह आचार्य हैं जिन्होंने मुखर होकर काव्य में गुण एवं अलंकार को अलग–अलग प्रतिपादित किया इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्र में कहा कि –

''काव्यशोभायाः कर्तारोधर्माः गुणाः''।
तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः।।

अर्थात् काव्य में शोभा के उत्पादक गुण कहलाते हैं और उसकी शोभा में वृद्धि करने वाले तत्व अलंकार कहलाते हैं।

सैद्धान्तिक स्वरूप

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान लिया है यह आप जान चुके हैं। काव्य से आकव्य को बताने के लिए तीन प्रकार के तत्वों को पहचाना गया था–

1. रस तत्व, 2. अलंकारतत्व, 3. गुणतत्व। दोनों का भी विचार किया गया था। आचार्य वामन के समय तक उपर्युक्त तत्वों का वर्णन भारतमुनि, दण्डी, भामह और रूद्रट और उद्भट आदि करते चले आ रहे थे। भरतमुनि का कथन है– 'रसःकाव्यार्थः'। अर्थात् रस ही काव्य का प्रधान अर्थ अथवा तत्व है। दण्डी की मान्यता थी कि अलंकारों से ही काव्य में शोभा की उत्पत्ति होती है–

''काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते''।

उद्भट ने भी अलंकारों का वर्णन किया किन्तु भामह ने अलंकार को वक्रोक्ति स्वरूप माना और कहा–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नो अस्यां कविना कार्यः कोलंकारोऽनया विना।।

अर्थात् सातिशय उक्ति ही तो वक्रोक्ति है। यही वह तत्व है जिससे काव्यार्थ विभावित होता है। भामह ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार दिया; इन वर्णनों से यह ज्ञात है कि, भरत, दण्डी और भामह ने गुणतत्व से परिचय कराया किन्तु स्पष्ट रूप से श्रेष्ठता प्रतिपादन नहीं किये, भरत और दण्डी ने काव्य में गुणों की संख्या 10 मानी थी और भामह ने केवल 3 ही माना। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी। दशगुणों के नाम का निर्देश भरत के नाद्शास्त्र में किया गया है– श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भमार्ग का प्राण मानते हैं। गोणी के लिए ओज और कान्ति की, पांचाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता का रहना अनिवार्य बतलाया।

रीति–सम्प्रदाय में अलंकार और गुणों का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया गया है। वामन का कथन है कि काव्य में शोभा का सर्जन करने वाले धर्म 'गुण' हैं, और अतिशय करने वाले धर्म अलंकार हैं।

रीति सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन गुणमत से, रसमत तक और ध्वनिमत से किया जाता है। किन्तु वक्रोक्ति को जानने के लिए हम अलंकार मत का प्रयोग करते हैं, तो यह सिद्धान्त आसानी से दृष्टिपथ में आ जाता है।

वामन का ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र है जिसमें इन्होंने अलंकार, रस, गुण आदि का ठीक से विचार किया है। जिन विषयों पर इनके पूर्व भी चल रहा था, अलंकार को वामन ने केवल उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इस सब की सीमा तक ही नहीं देखा और बताया बल्कि व्याप्ति के स्तर पर काव्य के अन्तस् तक अलंकारों का विचार किया। यही वे आचार्य हैं, जिन्होंने ''सौन्दर्यम् अलंकारः कहा अर्थात् काव्य का सबकुछ सौन्दर्य है अथवा सौन्दर्य ही काव्य का सब कुछ है–

सू0 – सौन्दर्यमलंकारः। (काव्यालंकासूत्र, प्र.अ.अधि.सूत्र सं.2 एवं)

वृ0 – अलंकृतिरलंकारः, करणयुत्पत्त्या पुनः अलंकारशब्दोयमुपमादिषु वर्त्तते।

इस प्रकार अलंकार की संज्ञा तो सौन्दर्य को दी गयी है। उपमा आदि का सौन्दर्योत्पत्ति में सहायक होना अलंकारिकता है। काव्यालंकारसूत्र के चौथे अधिकरण में वामन ने शब्द के अर्थ से दो प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया जिन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार कहा जाता है। इनके पूर्व के भरतदण्डी और भामह आदि ने ऐसा नहीं किया था।

उद्भट ने काव्यालंकार सार संग्रह में ऐसा विभाजन स्वीकार किया है। अलकारों की संख्या की मान्यता में दण्डी ने सैतीस (37) अर्थालंकारों का वर्णन किया है। आचार्य भरत ने भी वर्णन किया है। भामह ने 6 प्रकार के अर्थालंकार बतलाए। भामह के समय अलंकारों की संख्या तैंतालीस (43) हो गयी थीं। आचार्य वामन ने इकत्तीस (31) अलंकार ही स्वीकार किये। इनमें से तीन इनके अपने कल्पित हैं, और 28 प्राचीन हैं।

इसके विवेचन में दण्डी की भाँति आचार्य वामन का मत है। अन्तर यह है कि दण्डी ने रसवत् अलंकार में रसों को अन्तर्भूत मान लिया और वामन ने उन्हीं को कान्ति नाम के अर्थगुण में अनतर्भूत मान लिया। काव्यालंकार सूत्र 3,2,14 में वामन ने वस्तु का परीक्षण करने वाला वैज्ञानिक सिद्धान्त बनाया और कहा कि वस्तु के स्वभाव का स्फुटत्व, अर्थव्यक्ति नामक गुण हैं। वर्ण्यविषय की जो स्वभाविक स्पष्टता होती है उसे अर्थव्यक्ति गुण कहा जाता है, जैसे–

सू. – वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।।4।।

वृत्ति – वस्तूनां भावानां स्वभावस्थ स्फुटत्वं– यदसावर्थव्यक्तिः। यथा – प्रष्ठेषु शंखशकलच्छविषुच्छानां राजीभिरङि्कतमलन्तकलोहिनीभिः। गोरोचनाहरित भुबहिःपलाशभाभ्रोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य।।

यथा वा–

> प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरै–
>
> र्विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ्मिलितं ततः।
>
> तदनु वलनामात्रं किचिद्र व्यधायि बहिर्दलै–
>
> मुकुलनविधौ वृद्धास्प्नानां बभूव कदर्थना।।8।।

हिन्दी अर्थ – वस्तु के स्वभाव का स्फुटत्व अर्थव्यक्ति गुण है। वस्तुओं के स्वभाव की जो स्पष्टता है उसे अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं, यथा–

शङ्ख – खण्ड के सदृश कान्ति वाली पंखुड़ियों के पिछले भाग में अलन्क (महावर) के समान लाल रेखाओं से अंकित, गोरोचना के समान हरित एवं बाहरी में पलाश–पत्र के समान भूरे रंग से युक्त कुमुद–पुष्प छोटे तालाब के जल में खिल रहा है।

इस श्लोक के माध्यम से कवि ने सूर्योदय के समय तालाब में खिलते हुए कमल के विकास का स्पष्ट वर्णन किया है। पहले मुरझाए हुए कमल केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया और बाद में बिरली–बिरली पंखुड़ियाँ परस्पर एक दूसरे के लिए मिल गई

हैं। उसके बाद बाहरी पंखुड़ियाँ कुछ संकुचित हो गईं। इस तरह पुराने कमलों के स्पन्दित होने में कदर्थना हुई।।4।। इतने के बाद कहा–

दीप्तरसत्वं कान्तिः।।5।।

अर्थात् दीप्तरसत्व कान्ति गुण हैं। इस प्रकार इनके मत में रसत्व काव्यरसिक का विशेष धर्म है।

आचार्य वामन ने गुणों को सर्वाधिक महत्व दिया है। इन्होंने इसी सन्दर्भ में निम्नलिखित कथन किये –

1. रीतिरात्मा काव्यस्य
2. विशिष्टा पदरचना रीतिः
3. विशेषोगुणात्मा

अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है, विशिष्ट प्रकार के पदों की रचना रीति है, गुण आत्मा की भाँति विशिष्ट है। इस आधार पर प्रधान रूप से सौन्दर्य का वर्णन किये जाने के कारण इसका नामकरण सौन्दर्य सम्प्रदाय कर दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त सैद्धान्तिक स्वरूप को जानने के पश्चात् रीति के प्रकारों की जानकारी कर लेना आवश्यक है।

रीति के प्रकार

गुणों की कल्पना दण्डी ने मार्ग की पृष्ठभूमि पर किया था जो दो प्रकार के हैं –

1. वैदर्भ

2. गोडीय

दाक्षिणात्य मार्ग को वैदर्भ मार्ग कहा जाता है तथा पौरस्त्य मार्ग को गोडीय मार्ग कहा जाता है। दण्डी ने वैदर्भ को ही सराहा था, गोडीय मार्ग का आदर उन्होंने कम किया। भामह ने दोनों को महत्व दिया। इन्हीं मार्गों को वामन ने रीति नाम दिया और संस्था में तीन (3) माना– 1. वैदभी 2. गोडीया, 3. पांचाली।

इन तीनों रीतियों की पारिभाषिकता का अध्ययन आप पूर्व के वर्णन में कर चुके हैं। इन्हीं उपर्युक्त तथ्यों को रीति–सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया गया है।

रीति–सम्प्रदाय का समय

वामन को भवभूति एवं माध के पद उद्धृत करने के कारण 750 ई0 के बाद माना जाता है। आचार्य वामन ने अपनी रचना में महाकवि माध व भवभूति के पद्यों को उदाहरण के रूप में ग्रहण किया है, ये दोनों कवि 750 ई. के पहले के हैं। आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोक में भी वामन का समय आया है। इस स्थिति में तो 850ई. के पूर्व ही इनका समय माना जाना चाहिए। विद्वानों में वामन के समय के लिए मतैक्यता का अभाव है। काशिकाकार ने तो काव्यलंकार सूत्र के रचयिता वामन और रीति के प्रवर्तक वामन को भिन्न माना है। किन्तु तमाम मत मतान्तरों के पश्चात् यह निश्चित है कि वामन 850 ई. के पूर्व हुए थे जिन्होंने रीतिमत को स्थापित किया और आगे बढ़ाया।

25.3 वक्रोक्ति–सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं, वक्रोक्ति मतलब टेढ़ा कथन। एक ओर पूरी परम्परा में अलंकार–गुण इस विवेचन की बात चली आ रही थी उसी में आपने–वामन प्रतिपादित रीति–सिद्धान्त और सम्प्रदाय को जाना। भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति को सिद्धान्त में लाने का श्रेय एक मात्र कुन्तक को है। जिस ग्रन्थ में इन्होंने वक्रोक्ति का प्रतिपादन किया है। इन्होंने इस ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजन आदि पर भी अपना मत प्रकट किया है। कुन्तक का समय 10वीं शताब्दी के अन्त और 11वीं का प्रारम्भ माना जाता है। अध्ययन से पता चलता है कि इन्होंने वक्रोक्ति की प्रेरणा अपने पूर्णवर्ती आचार्यों से प्राप्त की है। इनके पूर्व वक्रोक्ति को एक अलंकार के रूप में मान्यता दी गयी थी, जिसे इन्होंने व्यापक रूप में सिद्धान्त के तौर पर प्रतिष्ठापित कर दिया। पूर्ववर्ती आचार्य काव्य के जीवन पर विचार कर ही रहे थे, उसी क्रम में इन्होंने भी 'वक्रोक्तिःकाव्यजीवितम्' कह दिया। अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है। वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए वैदग्ध्य भंगीभणिति कहा है जिसका अर्थ है– लोक सामान्य से ऊपर उठकर भंगिमापूर्ण विशेष कथन। यही इस सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक आधार है। यहाँ यह जानना उचित होगा कि वक्रोक्ति का प्रारम्भ कुन्तक से है। बल्कि इसका एक इतिहास है। वक्र शब्द का प्राचीनतम प्रयोग अथर्ववेद (7–58) में प्राप्त होता है।

कालिदास के पूर्व में बाणभट्ट की कादम्बरी आदि में इसका प्रयोग मिलता है। कालिदास कुन्तक से पूर्ववर्ती हैं। मेघदूत में इन्होंने ''वक्रःपन्था यदपि भवतः'' लिखा है। बाणभट्ट ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीडालाप परिहास वाक्हल तथा चमत्कारपूर्ण कथन के अर्थ में किया है। सबसे पहले काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य भामह के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार किया और वक्रोक्ति को अलंकार का सर्वस्व माना। भामह ने तो यहाँ तक कह दिया कि वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार भी सम्भव नहीं है क्योंकि इसके बिना अर्थ में रमणीयता नहीं आ सकती है। भामह के इस कथन को यदि समझा जाए तो निष्कर्ष यह आयेगा कि वक्रता से हीन कथन में काव्यत्व सम्भव नहीं है वह एक सामान्य बातचीत माना जायेगा। अतः इनके मत मे शब्द और अर्थ की सौम्दर्यपरक स्थिति ही वक्रोक्ति से अनुप्राणित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक को वक्रोक्ति के प्रतिपादन के लिए भामह ने पृष्ठभूमि प्रतिपादित किया।

भामह के ठीक बाद दण्डी ने भी काव्यादर्श में वक्रोक्ति को स्वीकार किया और उसे सभी अलंकारों का मूल कहा। समस्त वाङ्मय को ही दण्डी ने दो भागों में बाँट दिया–

''द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्''।

इसका मतलब यह है कि स्वभावोक्ति में सीधा और सहज वर्णन होता है। इसके अलावा वक्रोकित में जो भी वर्णन किया जाता है वह चमत्कार युक्त होता है। वक्रोक्ति का विवेचन वामन ने भी किया किन्तु उसे अर्थालंकार के रूप में माना। वक्रोकित का स्वरूप बताते हुए वामन कहते हैं–

'सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः'। अर्थात् सादृश्य पर आधारित लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। रूद्रट ने शब्दालंकार में वक्रोक्ति को रखते हुए श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति माना। ममम्ट और विश्वनाथ ने भी काव्यप्रकाश तथा साहित्य वर्णन में क्रमशः वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में ग्रहण किया। किन्तु आगे चलकर कुन्तक ने सिद्धान्त का रूप

दिया। कुन्तक ध्वनिमत से परिचित हैं, इन्होंने वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी किया है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त भाव ही सिमट जाता है। इनके अनुसार वक्रोक्ति मुख्यतः छः प्रकार की होती है–

1. वर्णविन्यासवक्रता
2. पदपूर्वार्द्धवक्रता
3. प्रकरणवक्रता
4. वाक्यवक्रता
5. प्रत्ययाश्रयवक्रता
6. प्रबन्धवक्रता

उपचारवक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विवेचन या विश्लेषण शक्ति बहुत ही मार्मिक है। अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है इनका ग्रन्थ। अन्य आचार्य रूद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपना कर वक्रोकित को एक सामान्य शब्दालंकार ही मानते हैं। वक्रोक्ति की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को जाता है और इसी को पल्लवित और पुष्पित करने का कार्य कुन्तक ने किया है। इस तरह आचार्य कुन्तक ने जिन छः प्रकार की वक्रताओं का सामान्य विश्लेषण प्रथम उन्मेष में किया है उनका विश्लेषण द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययाश्रयवक्रता, तृतीय उन्मेष में वस्तुवक्रता और वाक्य वक्रता तथा अन्तिम चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्ता और प्रबन्ध वक्रता का विशेष रूप से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार संक्षेप में इन वक्रता के छः प्रकारों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे–

1. वर्णविन्यासवक्रता

जब वर्ण तथा अक्षरों का सामान्य ढंग से प्रयोग न करके वह विन्यास सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ हो जाता है, वहीं पर वर्णविन्यास वक्रता होती है। इसी वर्णविन्यास वक्रता के कारण शब्द का सौन्दर्य उत्कर्षयुक्त हो जाता है। वर्णविन्यास वक्रता एक दो अथवा बहुत से व्यंजनों के बार–बार आवृत्ति से आती है। कुन्तक ने इस वक्रता को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया है कि उनमें अन्य आचार्यों के सभी अनुप्रास और यमक प्रकार अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस वक्रता का प्राण औचित्य है। आचार्य कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत अनुप्रास तथा यमक अलंकार का एवं भट्टोद्भट द्वारा स्वीकृत चरूषा, उपनागरिका और आभ्या वृत्तियों का ग्रहण कर लिया है–

1. एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। (पृ.63)
2. वृत्तिवैचित्रयमुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनै।। (2/5)
3. यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।। (2/6)

2. पदपूर्वार्द्धवक्रता

सुबन्त एवं तिङन्त पद से अभिप्राय है, कुन्तक का यहाँ पर जैसे पाणिनि ने कहा है ''सुप्तिङन्तम् पदम्'। पद में दो भाग होते हैं सुप् जो परार्ध है तो दूसरा तिङ् जो पूर्वार्द्ध है। प्रातिपदिक सुबन्त होने पर बनता है और धातु तिङन्त होने पर। इस प्रकार जो प्रातिपदिक अथवा धातु के वैचित्र्य के कारण आने वाली रमणीयता हैं, उसे हम पदपूर्वार्द्धवक्रता के नाम से जानते हैं। आचार्य कुन्तक ने पदपूर्वार्द्धवक्रता के अनेक भेद बतायें हैं–

क) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता – जहाँ पर रूढ़ि शब्द के द्वारा असम्भाव्य धर्म को प्रस्तुत करने के अभिप्राय का भाव प्रतीत होता है वहाँ, अथवा जहाँ पदार्थ मे रहने वाले ही किसी धर्म की अद्भुत महिमा को प्रस्तुत करने का भाव प्रतीत होता है, वहाँ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है। इसका उदाहरण कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक से उद्धृत किया है–

ताला जाअन्ति गुणा जाला देसहिअएहि धेप्यन्ति।
रईकिरणाणुग्ग हिआइहोन्ति कमलाइ कमलाइ।।

ख) पर्यायवक्रता – जहाँ पर कवि अनेक शब्दों द्वारा पदार्थ के प्रति प्रतिवादित किये जा सकते योग्य होने पर भी वर्ण्यमान पदार्थ के अत्यधिक सौन्दर्य प्रस्तुत करने के लिए किसी विशेष ही र्प्याय का प्रयोग करता है वहाँ पर पर्यायवक्रता होती है।

ग) उपचारवक्रता

जहाँ पर कवियों द्वारा अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों के धर्म का एक दूसरे पर अत्यन्त अरूप साम्य के आधार पर उसके लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। जैसे– अमूर्त पदार्थ का मूर्त पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, ठोस पदार्थ का द्रव पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, अचेतन पदार्थ का चेतन पदार्थ के प्रतिपादक शब्द द्वारा कथन उपचार वक्रता के प्रथम प्रकार को प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार दूसरे प्रकार की उपचार वक्रता वह होती है, जिसके मूल में विद्यमान रहने पर रूपकादि अलंकार सरस उल्लेख वाले हो उठते हैं। दूसरे प्रकार की उपचारवक्रता रूपकादि अलंकारों की प्राणभूता है– "तेन रूपकादेरलङ्करणकलापस्य सकलैस्यैवोपवक्रताचारवक्रता जीवितमित्यर्थः।

घ) विशेषणवक्रता

क्रियारूप अथवा कारक रूप पदार्थ का सौन्दर्य जहाँ पर उसके विशेषणों के माहात्म्य से समुल्लसित होता है, वहाँ पर विशेषण वक्रता होती है। यहाँ पर क्रिया अथवा कारक से तात्पर्य पदार्थ स्वभाव की सुकुमारता की प्रकाशकता एवं अलंकार के सौंदर्यातिशय की परिपुष्टि है। इस विषय पर कुन्तक का कहना है कि –

एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकल– सत्काव्यजीवितस्वेनलक्ष्यते, यस्मादनैनेय रसः परां परिपोषणदवीमवतार्यते।

ङ) संवृत्तिवक्रता

जहाँ पर पदार्थ का स्वरूप किसी वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के लिए उसके अपूर्ण वाचक भूत सर्वनाम आदि के द्वारा छिपाया जाता है, वहाँ संवृत्तिवक्रता होती है।

च) पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता–

जहाँ पर पद के मध्य में आने वाले कृत्यादि प्रत्यय अपने उत्कर्ष के द्वारा वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य की रमणीयता को अभिव्यक्त करते हैं वहाँ पदमहयान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता होती है।

छ) वृत्तिवैचित्र्य वक्रता–

जहाँ पर वैयाकरणों के यहाँ प्रसिद्ध अव्ययीभाव आदि समास, तद्धित एवं सुपषधातु वृत्तियों को अपने सजातियों की अपेक्षा विशिष्ट रमणीयता।

3. क्रियावैचित्र्यवक्रता

अभी तक आपने आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित पदपूर्वार्द्धगत प्रातिपदिक की वक्रताओं का विवेचना समझा। अब आप धातु की वक्रता का विवेचन समझेंगे। चूँकि धातु की वक्रता का मूल, क्रिया की विचित्रता है इसीलिए कुन्तक ने इसका नाम क्रियावैचित्र्यवक्रता रखा और इनके प्रकार भी स्पष्ट किए हैं–

''तस्य च (अर्थात् धातुरूपस्य पूर्णभागस्य च) क्रियावैचित्र्यनिबन्धनमेव वक्रत्वं विद्यते। तस्यात् क्रियावैचित्रस्यैव की दशाःक्रियन्तश्च प्रकाराः सम्भवन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह।'' (पृ0 245)

क्रियावैचित्र्यवक्रता के कुन्तक ने पाँच प्रकार बताये हैं–

1. कर्त्ता का अत्यधिक अन्तरङ्ग होना– कर्न्तुरत्यन्तरङ्गवम् (2128)
2. कर्त्ता की अपने सजातीय दूसरे कर्त्ता की अपेक्षा विचित्रता।
3. अपने विशेषण के द्वारा आने वाली विचित्रता।
4. सादृश्य आदि सम्बन्ध का आश्रय ग्रहण कर किये दूसरे धर्म के आरोप के कारण आने वाली रमणीयता
5. कर्म इत्यादि कारकों का संवरण।

4. पदपरार्ध अथवा प्रत्ययवक्रता

पदपरार्थ अथवा प्रत्यय वक्रता को हम छः भागों में विभक्त करके समझ सकते हैं–

1. कालवैचित्र्यवक्रता
2. कारकवक्रता
3. सङ्ख्यावक्रता
4. पुरुषवक्रता
5. उपग्रहवक्रता
6. प्रत्ययविहित प्रत्ययवक्रता

जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य का अत्यन्त अन्तरंग होने के कारण अर्थात् उसके उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला वैयाकरणों में प्रसिद्ध लट् आदि प्रत्ययों द्वारा वाच्य वर्तमान आदि काल रमणीयता को प्राप्त करता है, वहाँ कालवैचित्र्यता होती है।

जहाँ परिपुष्ट करने के लिए कवि कारकों के परिवर्तन को प्रस्तुत करते हैं वहाँ कारक वक्रता होती है। इसी प्रकार जहाँ कविजन काव्यवैचित्र्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से वचन विपरिणाम को प्रस्तुत करते हैं वहाँ संड्ख्यावक्रता होती है। कविजन जहाँ काव्य सौन्दर्य को प्रस्तुत करने की इच्छा से उत्तम अथवा मध्यम पुरुष के स्थान पर कभी प्रथम पुरुष का प्रयोग कर देते हैं अथवा अस्मद् या युस्मद् आदि का प्रयोग न कर केवल प्रातिपदिक मात्र को प्रयोग करते हैं वहाँ पुरुषवक्रता होती है। इसी प्रकार

धातुओं के लक्षण के अनुसार निश्चित पद (आत्मने पद अथवा परस्मैपद) के आश्रय वाले प्रयोग का उपग्रह करते हैं। अतः वहाँ कवि जन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य की सृष्टि के लिए आत्मनेपद अथवा परस्मैपद में से किसी एक पद का ही प्रयोग करते हैं वहाँ उपग्रह वक्रता होती है। जहाँ पर तिङादि प्रत्ययों से बनाया गया अन्य प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करता है वह अभी तक बताई गई वक्रताओं से भिन्न एक प्रत्यय विहित प्रत्ययवक्रता को प्रस्तुत करता है।

5. उपसर्गनिपातजनित पदवक्रता

आचार्य कुन्तक ने उपसर्गों एवं निपातों के अव्युत्पन्न होने के कारण उनका अवयवों के अभाव में कोई विभाग सम्भव नहीं था अतः न वे पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्तर्गत ही इसे विवेचित कर सकते थे और न पदपरार्थवक्रता के अन्तर्गत ही। जहाँ पर उपसर्ग तथा निपात सम्पूर्ण वाक्य के एकमात्र प्राणरूप में श्रृंगार आदि रसों को प्रकाशित करते हैं, वहाँ उपसर्ग एवं निपातजनित पदवक्रतायें हुआ करती हैं। यद्यपि इन उपसर्गादि से लगे हुए अन्य प्रत्यय भी पदवक्रता को प्रस्तुत करते हैं जैसे– ''येन श्यामंवपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते'' में अति के बाद आया हुआ ''तराम्'' प्रत्यय किन्तु इसका पूर्वोक्त प्रत्ययवक्रता के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाने से अलग विवेचन कुन्तक ने किया है। अतः चार प्रकार के पदों की विषयभूत वक्रताओं का उनके भेद प्रभेद सहित विवेचन करके अन्त में उसके विषय इस प्रकार हैं–

> 'तदेवमियमनेकाकारा वक्रत्वविच्छिन्तिश्चतुर्विद्यपदनिषया वाक्यैकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलवाक्यवैचित्र्य– निबन्धनतामुपयाति।

6. वस्तुवक्रता अथवा पदार्थवक्रता

आचार्य कुन्तक ने तृतीय उन्मेष में वस्तु वक्रता अथवा पदार्थवक्रता के विषय में बताया है। जहाँ पर विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने में पूर्णतया समर्थ, एवं अनेक प्रकार की वक्रताओं से विशिष्ट शब्द के द्वारा ही अत्यन्त रमणीय स्वभाविक धर्म से मुक्त रूप में वस्तु का वर्णन किया जाता है वहाँ पर वस्तुवक्रता होती है। इस प्रकार की वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करते समय कविजन बहुत से उपमादि अलंकारों का उपयोग नहीं करते क्योंकि वैसा करने से वस्तु की सहज सुकुमातरा के म्लान हो जाने का भय रहता है। जहाँ कवियों को विभाव आदि के औचित्य से श्रृंगारादि श्लोकों की प्रतीति करानी होती है वहाँ वे इस वस्तुवक्रता का सहारा लेते हैं। अलंकारादि का प्रयोग बहुत कम करते हैं। जहाँ कहीं भी अलंकारों का उपयोग करते हैं वह केवल उस वस्तु की स्वभाविक सुकुमारता को ही और भी अधिक समुन्नमीलित करने के लिए ही न किसी अलंकार वैचित्र्य को प्रस्तुत करने के लिए किया है।

25.4 सारांश

संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वेक्षण सम्बन्धी खण्ड की इस इकाई के अध्ययन के बाद आपने जान लिया होगा कि काव्यशास्त्र के सम्प्रदायों का सैद्धान्तिक रूप में उदय कब हुआ और आचार्यो ने इसकी विकास यात्रा में किस प्रकार योगदान दिया। भरतभूमि से ही सिद्धान्तों का साम्प्रदायिक रूप में उदय हुआ। रस सम्बन्धी मान्यता के आचार्य भरतमुनि ने सबसे पहले सूत्रपात किया। इन्हीं के बाद भामह ने शब्दार्थ के भीतर अलंकारता की बात स्वीकार करके काव्यशास्त्र के सोपान को आगे बढ़ाया। दण्डी भी रस, गुण और अलंकार के विवेचक रहे। इस क्रम में संस्कृत काव्यशास्त्र में गुण, रस

और अलंकार का विवेचन चला आ रहा था। वामन ने विशिष्ट पद रचना को आधार बनाकर रीति का प्रतिपादन किया और रीति को ही काव्य के आत्मत्व के रूप में स्वीकार किया। इसकी यह रीति गुणों का आश्रय ग्रहण कर आगे बढ़ीं। जिसमें वैदभी, गोडी और पांचाली रीतियों का नाम अध्ययन क्रम में आते हैं। वामन ने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा गुणों की संख्या कम माना। इनके ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति मे यह विवेचन पाया जाता है कि भामह ने जिस वक्रोक्ति को काव्य में चमत्कारिक तत्व के रूप में माना था उसी का पल्लवन कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वक्रोन्क्तिजीवितम् में सैद्धान्तिक रूप में कर दिया। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम' इनका काव्यलक्षण है जो काव्य में वक्रोक्ति को ही प्राणतत्व के रूप में स्वीकार करता है। छः प्रकार की वक्रोक्तियों का प्रतिपादन करते हुए वामन ने वक्रोक्ति को प्रतिष्ठापित किया।

प्रस्तुत इकाई में आपने आचार्य वामन के रीति–सिद्धान्त तथा कुन्तक के वक्रोक्तिमत का अध्ययन किया है। इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों का परिचय बताकर रीति और वक्रोक्ति के सिद्धांतों को समझा सकेंगे।

25.5 शब्दावली

रीति – विशेष प्रकार की पद–रचना

वक्रोक्ति – लोकसामान्य से ऊपर उठकर, टेढ़ा कथन

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता – वृत्तियों को अपने सजातियों की अपेक्षा विशिष्ट रमणीयता।

वस्तुवक्रता – विशिष्ट शब्द के द्वारा अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक रूप में वस्तु का वर्णन किया जाय, उसे वस्तुवक्रता होती है।

समुन्मीलित – अर्थ की सुकुमारता को अपेक्षाकृत अधिक प्रकट करना

25.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज।

3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला,चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

25.7 बोध प्रश्न

1. संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन के योगदान का निरूपण कीजिए।
2. रीति–सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।
3. कुन्तक ने वक्रोक्ति को किस प्रकार काव्य की आत्मा माना? सिद्ध कीजिए।
4. संयुक्त रूप से रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय का परिचय लिखिए।

इकाई 26 ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय

इकाई की रुपरेखा

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- ध्वनि के विषय में आप परिचित होंगे
- ध्वनि सम्प्रदाय के विषय में आप परिचित होंगे
- ध्वनि के भेद के विषय में आप परिचित होंगे
- औचित्य के विषय में आप परिचित होंग
- औचित्य सम्प्रदाय के विषय में आप परिचित होंगे

26.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह 26 वीं इकाई है इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते है कि संस्कृत काव्य शास्त्र में –ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदायकी आवश्यकता क्यों पड़ी?' संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदायसमाज के लिये अत्यन्त उपयोगी है ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बोधित रहता हैं, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है– उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार की होती है। यहाँ अन्ध या आँधर शब्द का अर्थ नेत्रहीन न होकर लक्षणा की सहायता से 'पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङग्यार्थ है ''असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धम है इन सवका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

26.2 ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय

ध्वनि का अर्थ और परिभाषा

ध्वनि की व्याख्या के लिए निसर्गतः सबसे उपर्युक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

उपर्युक्त कारिका की स्वयं ध्वनिकार ने ही और आगे व्याख्या करते हुए लिखा है' ''यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थे व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।''

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाचकरूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

यहाँ 'तमर्थम्' 'उस अर्थ का' वर्णन पूर्वकथित दो श्लोकों में किया गया है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही भासित होता है)।

अर्थात् 'उस अर्थ' से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु (चर्वणीय, सरस) अर्थ का जो प्रतिभाजन्य है, और जो महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलङ्कार आदि से भिन्न, स्त्रियों में अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थप्रतिभाजन्य है, स्वादु (सरस) है, वाच्य से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है, और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।

उस स्वादु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई बड़े–बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है।

इस पर लोचनकार की टिप्पणी है–

''सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः। । स(काव्यविशेषः) इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।''

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है।यह 'काव्यविशेष'– का अर्थ है : अर्थ, या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है।

इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ–वाच्य (व्यञ्जक) अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्त के कहने का तात्पर्य यह है कि कारिका के अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य को ही नहीं दी गयी वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति–अर्थो से भी ये पाँचों भेद सिद्ध हो जाते हैं :

1. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनि–जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

2. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः––जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

3. ध्वन्यते इति ध्वनिः–जो ध्वनित किया जाये वह घ्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु–व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनों रूप जा जाते हैं।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः– जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार–व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।

5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः–जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न–भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थो में होता है : 1. व्यञ्जक शब्द 2. व्यञ्जक अर्थ 3. व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना (व्यञ्जनाव्यापार) और व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए : वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः (साहित्यदर्पण)। इस आतिशय्य अथवा प्राधान्य का अर्थहै चारुत्व अर्थात् रमणीयताका उत्कर्ष, 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' (ध्वन्यालोक)। अतएव वाच्यातिशायिका अर्थ हुआ वाच्य से अधिक रमणीय–और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ : ''वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्यको ध्वनि कहते हैं।''

ध्वनि के भेद

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं– 1. लक्षणामूल ध्वनि स्पष्टतः लक्षणा के आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बोधित रहता हैं, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद हैं–(अ) अर्थान्तरसङ्क्रमितिवाच्य और (आ) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तसङ्क्रमितवाच्य से अभिप्राय है 'जहा वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में सङ्क्रमित हो जाये' अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाये। ध्वनिकार ने इसके उदाहरणस्वरूप अपना एक श्लोक दिया है जिसका स्थूल हिन्दी–रूपान्तर इस प्रकार है–

तब ही गुन शोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं, जब रविकर सों विकसहिं।।

यहाँ कमल का अर्थ हो जायगा 'मकरन्दश्री एवं विकचता आदि से युक्त'–अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्तदोष का भागी भी होगा। इस प्रकार कमल का साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ में सङ्क्रमित हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य–अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है– उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार की होती है। ध्वनिकार ने पदगत ध्वनि का उदाहरण दिया है–

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुशारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।
''साँस सों आँधर दर्पन है जस बाटर ओट लखात है चन्दा।''

यहाँ अन्ध या आँधर शब्द का अर्थ नेत्रहीन न होकर लक्षणा की सहायता से 'पदार्थों को स्फुट करने में अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है ''असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकार के अन्य धर्म।''

वाक्यगत ध्वनिका उदाहरण 'ध्वन्यालोक' में यह दिया गया है–

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।
''सुबरन–पुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन।
सूर और विद्या–निपुन, सेवा माँहि प्रवीन

यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्णपुष्पा होती है और न उसका चयन सम्भव है। अतएव लक्षणा की सहायता से इसका यह होगा कि तीन प्रकार के नरश्रेष्ठ पृथ्वी की समृद्धिका अर्जन करते हैं।

इस ध्वनि में लक्षणलक्षणा रहती है

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि रूढ़ीलक्षणा में तो व्यङ्ग्य होता ही नहीं।

अभिधामूला ध्वनि–जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधा पर आश्रित है इसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का अर्थ है : जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ट हो। अर्थात् यहाँ वाच्यार्थ का अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परन्तु वह अन्ततः व्यङ्गयार्थ का माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं: असंलक्ष्यक्रम और और संलक्ष्यक्रम। असमलक्ष्यक्रम में पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परन्तु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का अनन्तर अत्यन्तात्यन्त स्वल्प होने के कारण 'शतपत्र–भेदन्याय' से स्पष्टतया लक्षित नहीं होताा। समस्त रसप्रपञ्च इसके अन्तर्गत आता है। संलक्ष्यक्रम में यह पौर्वापर्यक्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है, कहीं अर्थ के आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार इसके तीन भेद हैं–

> शब्दशक्ति–उद्भव, अर्थशक्ति–उद्भव और शब्दार्थ–उमयशक्ति–उद्भव। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि संलक्ष्य क्रम के अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इनमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पौर्वापर्यक्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनि के मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवान्तर भेदों की संख्या का ठीक नहीं।

ध्वनि की व्यापकता

उपर्युक्त प्रस्तार से ही ध्वनि की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी काव्य का कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनि के बाहर पड़ता हो। ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में सङ्केत, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिये गये हैं।

ध्वनि और रस

भरत ने रस की परिभाषा की है : विभाव—अनुभाव आदि का ही कथन होता है—उनके संयोग के परिपाकरूप रस का नहीं, अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रसदोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा कि अभी व्यञ्जना के विषय में कहा गया है, उसी उक्ति का वाच्यार्थ रसप्रतीत नहीं कराता, केवल अर्थबोध कराता है। रस सहृदय की हृदयस्थिति वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में व्यञ्जना या ध्वनन होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर ध्वनि माना है।

ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद

ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि और व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता मानता है। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ ककी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी अर्थात् उत्तम काव्य के भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलय्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इसमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं। इसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व तो अवश्य होता है, परन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता——वरन् समान रमणीय या कम रमणीय होता है, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। । अधम काव्य के अन्तर्गत चित्र आता है जो वास्ततव में काव्य है भी नहीं। उसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व ही नहीं होता और न अर्थगत चारुत्व ही होता है। ध्वनिकार ने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्य की कोटि में उसे स्थान दे दिया है—परन्तु रस का सर्वथा अभाव होने के कारण अभिनव ने और उनके बाद विश्वनाथ ने उसको काव्य की श्रेणी से पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनि में भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टी से रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार

ध्वनिकार अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखकर चले थे : एक ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना, दूसरा अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार। वास्तव में ध्वनि सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी व्यङ्गय ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियों का , न उपमा आदि अलङ्कारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनिरूप में ही उपस्थित रहते है दूसरे गूण रीती अलकार आदि तत्व प्रयछतः अर्थात सधे वाक्यार्थ द्वारा मनेको आहाद नहीं देते अतएव ये सब ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध से उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सब का महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यर्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्माविहीन पञ्चतत्त्वों अथवा आभूषणों आदि के समान ही निरर्थक होगें । इसलिए ध्वनिकार ने उन्हें ध्वन्यर्थरूप अङ्गी के अङ्ग ही माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति, आदि से है, अतएव वे ध्वन्यर्थ के साथ (जो मुख्यतः रस ही होतता है) अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पदसङ्घटनाका सम्बन्ध शब्द—अर्थ से है इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार की सुन्दर शरीरसंस्थान मनुष्य के बाह्म व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलङ्कारों का सम्बन्ध भी शब्द—अर्थ से ही है।परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलङ्कार का अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्यशब्दा में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालङ्कार का, और सभी प्रकार के काव्यार्थो में उपमा या किसी अन्य अर्थालङ्कार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलङ्कारों की स्थिति आभूषणों की —सी है जो अनित्यरूपस शरीर की शोभा बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्यम ही वृद्धि करते हैं। क्योंकि शरीर सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है—शिव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलङ्कार का संकुाचत अर्थ में ग्रहण किया है। अलङ्कार का व्यापक रूप में ग्रहण करने पर; अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति—चमत्कार का ग्रहण करने पर चाह उसका नामकरण हुआ या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यञ्जना का, जैसा कि कुन्तकन वक्रोक्ति के विषय में किया गया है, उसका न तो शब्द—अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार—अलङ्काय में इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

सबसे पहले मनोविज्ञान की हष्टि से ध्वनि के आधार और स्वरूप पर विचार कीजिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रोगात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके हृदय में समान रोगात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका

तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की हष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्च्य नहीं। यह सिद्ध हो जाने के बाद, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है : भाषा के द्वारा। परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर (क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थबाध ही कराता है)विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचकरूप' में प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्ररूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्ररूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगाये वह क्षीण और धृमील न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना शक्ति की अपेक्षा करता है क्योंकि कवि कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसा होगा ? उसके लिए कवि को निश्चय ही अपने शब्दों को कल्पनागर्भित करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पनाशक्ति का नियोजन करके कवि भाषा शाब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें मुनकर सहृदय को केवल अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रस संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यञ्जना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है। ध्वनिस्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में ध्वनि का सीधा विवेचन ढूँढ़ना तो असङ्गत होगा क्योंकि पश्चिम की अपनी पृथक् जीवनहष्टि एवं संस्कृति और उसके अनुसार साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि के प्रति अपना पृथक् हष्टिकोण रहा है। परन्तु मानव जीवन की मूलभूत एकता के कारण जिस प्रकार जीवन के अन्य मौलिक तत्त्वों में अनेक प्रकार की प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष समानताएँ मिती हैं, इसी प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूल तत्त्व अत्यन्त भिन्न नहीं है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, ध्वनि का सिद्धान्त मूलतः कल्पना की महत्त्व स्वीकृति ही है और कल्पना का प्रभुत्व पश्चिमी काव्यशास्त्र में आरंभ से ही रहा है। पश्चिम के आचार्य प्लेटो हैं, उन्होंने अप्रत्यक्ष विधि से काव्य में सत्य के आधार की प्रतिष्ठा की। परन्तु वे विज्ञान के सत्य और काव्य के सत्य का अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके–उन्होंने बुद्धि के (दर्शन के) सत्य और कल्पना के सत्य को एक मानते हुए काव्य और मानते हुए काव्य और कवि के साथ घोर अन्याय किया। प्लोटो ने काव्य को अनुकृति माना–वह भौतिक पदार्थो या घटनाओं का अनुकरण करता है, और भौतिक पदार्थ एवं घटनाएँ आध्यात्मिक (ideal) पदार्थो और घटनाओं की प्रकृतिमात्र हैं। और चूँकि वास्तविक सत्य आध्यात्मिक घटनाएँ ही हैं, अतएव कवि की रचना सत्य की भौतिक प्रतिकृतिकी प्रतिकृति है और उस पर भी विकृति है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में उन्होंने वाच्यार्थ को ही काव्य में मुख्य मान लिया, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वे नहीं कर सके। और, इसीलिए वे काव्य की आत्मा को व्यक्त नहीं कर पाये। दार्शनिक धरातल पर प्लेटों के उपर्युक्त सिद्धान्तों में बहुत–कुछ भारतीय दर्शन के अभिव्यक्तिवाद और व्याकरण के स्फोट वाद का आभास मिलता है जिनसे भारतीय आचार्यो को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा मिली थी। यह एक विचित्र संयोग है कि इनकी दार्शनिक अनुभूति होने पर भी प्लेटो काव्य का रहस्य समझने में असमर्थ रहे।

प्लेटो की त्रुटिका समाधान अरस्तूने किया। उन्होंने भी प्लेटों की भाँति काव्य को अनुकृति ही माना। परन्तु उन्होंने अनुकृतिका अर्थ प्रतिकृति न करते हुए पुननिर्माण

अथवा पुनःसृजन किया। प्लेटोंकी धारणा थी की काव्य वस्तू कि विषय-गत प्रतीगती हैं परन्तू अरस्नूने उसे वस्तूका कल्पनात्मक पूनर्निर्माण अथवा पूनःर्सजन माना गया । कवि कथन नहीं करता प्रस्तूत करता हैं औंर श्रोता या पाठक तदनुसार वस्तुके प्रत्यक्षरुपको ग्रहण नहीं करता वरन कविमानसजात रुप को ग्रहण करता है शूक्लजी के शब्दें में वह कविकि उक्तिका अर्थ ग्रहण नहीं करता बिम्ब ग्रहण करता है। इस प्रकार अरस्तू ने ध्वनि या व्यङ्गय आदि शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी काव्यार्थ को वाच्य न मानकर व्यङ्गय ही माना है। उनकी 'मिमैसिस'–अनुकरण की व्याख्या में ''वस्तु के कल्पनात्मक पुनःसृजन'' का अर्थ विभाव, अनुभाव, आदि के द्वारा (वस्तु से उद्‌बुद्ध) भाव की व्यञ्जना ही है। इस प्रकार अरस्तू के सिद्धान्त में प्रकारान्तर से ध्वनि की स्वीकृति असन्दिग्ध है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तन वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही किया था यद्यपि विनम्रतावश उन्होंने इसे पूर्वाचार्यो का मत कहा है। ध्वनि का आधार प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ है जो गुण, अलंकार आदि से भिन्न है; वही ध्वनि काव्यात्मा है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।) प्रतीयमान अर्थ काव्य में स्वीकृत परम्परागतत उपदानों से उसी प्रकार भिन्न है जैसे किसी रमणी का सौन्दर्य उसके अवयवों से भिन्न होता है। इस अर्थ के त्रैविध्य के कारण ध्वनि भी त्रिविध है – वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। अन्य तत्त्व ध्वनि के उपकारक होते हैं। ण्वनि का प्रयोग पाँच अर्थो में हुआ है– व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना–व्यापार तथा व्यङ्यप्रधान काव्य। आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ और वाचक शब्द के गुणीभूत हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करानेवाले काव्य को 'ध्वनि' कहा है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (1/13)

आनन्दवर्धन की दृष्टि में दो ही काव्यभेद हैं–ध्वनि (व्यङ्यार्थप्रधान) तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य (जिसमें व्यङ्ग्यार्थ रहे किन्तु वाच्यार्थ से बढ़कर न हो)। उनकी दृष्टि में चित्रकाव्य (शब्द या अर्थ के चमत्कार से भरा, व्यंग्यार्थशून्य) काव्य का अनुकरण मात्र है, वह मुख्य रूप से काव्य नहीं होता (न तन्मुख्यं काव्यम्, काव्यानुकारो ह्यसौ– ध्वन्यालोक 3/46 वृत्ति)। मम्मट ने यद्यपि आनन्दवर्धन का अनुसरण काव्यभेदों के विवेचन में किया किन्तु समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण वे चित्रकाव्य को काव्यसंज्ञा से वञ्जित नहीं कर सके, निन्दा भले ही की।

आनन्दवर्धन (850 ई.) से लेकर मम्मट (1050 ई. से 1100 ई.) तक के काल में ध्वनि के पक्ष–विपक्ष में शास्त्रार्थ होते रहे।। आनन्दवर्धन ने सवयं आठ प्रकार के ध्वनि विरोधियों की सम्भावना प्रकट की थी– (1) तीन प्रकार के अभाववादी (= ध्वनि नामक तत्त्व नहीं होता), (2) भक्तिवादी (ध्वनि लक्षणावृत्ति से भिन्न नहीं है) तथा अनिर्वचनीयतावादी (ध्वनि है किन्तु इसे प्रकट नहीं किया जा सकता)। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में इन सब पक्षों का स्पष्ट खण्डन किया ळें इस अन्तराल में महिभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' की रचना ही इसलिए की कि ध्वनि के सभी उदाहरणों को अनुमान का विषय सिद्ध करें। भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' (अनुपलब्ध) में व्यञ्जना का खण्डन करक, रस के आस्वादनार्थ 'भावकत्व एवं भोजकत्व' नामक शब्दवृत्तियों की कल्पना की। उधर कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के भेदविशेष में रखकर इसका महत्त्व कम

किया। रुय्यकक कृत 'अलंकारसर्वस्व' की टीका में जयरथ ने ध्वनि–विरोधी 12 मतों का संग्रह किया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चचम उल्लास में तथा विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' के पञ्चम परिच्छेद में व्यञ्जना की स्थापना के क्रम में ध्वनिविरोधियों का प्रबल खण्डन किया है। तदनुसार ध्वनि का स्थान अभिधा या लक्षण वृत्ति नहीं ले सकती। हेत्वाभासों की उपस्थिति के कारण इसये अनुमान नहीं कह सकते।

ध्वनि को काव्यात्मा मानने से गुण, अलंकार, रीति आदि सभी उपादान काव्य में अपना–अपना समुचित स्थान पा लेते हैं। व्याकरण के अंगों (जैसे उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, समास वाक्य आदि) का भी समावेश ध्वनि के क्षेत्र में होता है क्योंकि इनके कारण भी ध्वनि होती है। रस के अतिरिक्त वस्तु और अलंकार में भी ध्वनि रहती है। अतः काव्य का क्षेत्र 'रसात्मकं काव्यम्' की अपेक्षा बढ़ जाता है। केवल रस ही नहीं, वस्तु और अलंकार का सौन्दर्य भी काव्य की सीमा में आ जाता है। ध्वनि–प्रस्थान में रस को उत्कृष्ट पद प्राप्त है किन्तु उसके अभाव में भी काव्य हो सकता है यदि उक्त सौन्दर्य प्रकट हो। इस प्रकार यह प्रस्थान ग्राह्मता की दृष्टि में सर्वोत्तम है।

औचित्यसम्प्रदाय

इसका प्रवर्तन अभिनवगुप्त के शिष्य और अनेक ग्रन्थों के लेखक क्षेमेन्द्र ने किया। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में कहा है कि जिस प्रकार शरीर को अलंकारों के उचित प्रयोग से ही सुन्दर बनाया जाता है तथा अनुचित प्रयोग हास्यास्पद बना देता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुण, अलंकार, रस आदि का उचित निवेश ही काव्य का प्राण है। इन काव्योपदानों के प्रयोग में गड़बड़ी (अनौचित्य) होने से काव्य हास्य का पात्र हो जायेगा। क्षेमेन्द्र की मूल उक्ति है–

अलङ्कारास्तवलङ्कारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

(औचित्यविचारचर्चा, का. 5)

क्षेमेन्द्र औचित्य के अन्तर्गत अनेक विषयों को रखकर उन्हें पाँच वर्गो में विभक्त किया है। कुल सत्ताइस विषय हैं जहाँ औचित्य का ध्यान रखना चाहिए– (i) पद, वाक्य तथा प्रबन्ध का औचित्य मीमांसा–दर्शन का विषय है। (ii) गुण, अलङ्कार और रस–विषयक औचित्य के लिए काव्यशास्त्र प्रमाण है। (iii) क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल– इन आठ विषयों का औचित्य व्याकरण की परिधि में है। (iv) देश, कुल और व्रत ये तीन विषय लौकिक हैं जिनका औचित्य लोकव्यवहार पर आश्रित है। (v) शेष दस विषय हैं– तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार–संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम तथा आशीर्वाद। इनका सम्बन्ध स्वयं विषय से है, इनके औचित्य का उत्तरदायित्व कवि पर ही है।

औचित्य को काव्य का प्रधान तत्त्व कहने की प्रेरणा अपने पूर्वाचार्यो से ही क्षेमेन्द्र को मिली थी। आनन्दवर्धन ने अलंकारों के औचित्य (अपृथग्यत्न–निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः) तथा रस के औचित्यमूलक रस पर प्रकाश डाला था–

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिशत्परा।।

(ध्वन्यालोक 3/14 की वृत्ति)

वस्तुतः धन्यालोक का तृतीय उद्योत काव्य के सभी उपदानों के औचित्य का विवरण देने के कारण क्षेमेन्द्र के लिए परम प्रेरक स्थल रहा होगा। क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में चमत्कार लाकर उसे आस्वाद्य बनाते हुए रस के प्राणरूप में अवस्थित होना औचित्य की विशिष्टता है।

समस्त लोक में व्याप्त औचित्य काव्य में भी व्याप्त है, अत एव यह काव्य का प्राण है। यद्यपि वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व है किन्तु उसे आत्मा नहीं की सकते। साध्य होने पर ही कोई पदार्थ आत्मा कहलाता है। काव्य–रचना औचित्य को साध्य को (लक्ष्य) बनाकर नहीं होती। रसानुभूति के लिए औचित्य साधन है, न कि औचित्य की प्राप्ति के लिए रसादि होते हैं। औचित्य वस्तुतः कविशिक्षा के लिए उपकरण–मात्र है, रचना के अभ्यास के समय कविगण इस पर ध्यान रखते हैं। रसानुभूति के समय तो औचित्य पर ध्यान जाता ही नहीं। हाँ, इसका अभाव (अनौचित्य) रहने पर सहृदय को उद्वेग अवश्य हो जाता है इसलिए ऐसे तत्त्व को काव्यात्मा कैसे कह सकते हैं जिसकी सत्ता से अधिक अभाव पर ही ध्यान जाये? स्वयं क्षेमेन्द्र समझते थे कि काव्य का प्राण तो कोई अन्य तत्त्व है, औचित्य उसे स्थिर रखता है।

इन सभी प्रस्थानों में व्यापकता ध्वनि–प्रस्थान की है; काव्य के उत्कर्ष की व्याख्या रसप्रस्थान करता है किन्तु ध्वनि में वह भी गतार्थ हो जाता है।

भामह स्थान भरत के अनन्तर प्रथम आचार्य के रूप में समादृत है। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की रचना करके 'अलङ्कार–प्रस्थान' का प्रवर्तन किया था। यह ग्रन्थ शुद्ध काव्यशास्त्रीय है (क्योंकि नाट्यशास्त्र तो मुख्यतः दृश्यकाव्य)

26.4 सारांश

इस इकाई में आप संस्कृत साहित्य में –ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय के महत्त्व के विषय में विशेष रूप से वर्णन किया गया है । ध्वनि की व्यापकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकारक्षेत्र का विस्तार है। ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं–उत्तम, मध्यम और अधम इस वर्गक्रम का आधार स्पष्टतः ध्वनि और व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता मानता है। उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसी को ध्वनि कहा गया है। ध्वनि के भी अर्थात् उत्तम काव्य के भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। इसमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दों में रस ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टी से रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

26.5 शब्दावली

शब्द **अर्थ**

अलङ्काराः	अलङ्कार
गुणाः	गुण
सदा	हमेशा
औचित्यं	औचित्य
रससिद्धस्य	रससिद्ध का काव्यस्य काव्य का

26.6 सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – वी.वी. काणे, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, काव्यमाला सिरीज।

3) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

4) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

26.7 बोध प्रश्न

1) प्रश्न–ध्वनि सम्प्रदाय परिचय दीजिये

2) औचित्य का सामान्य परिचय कीजिये

3) औचित्य सम्प्रदाय का सामान्य कीजिये

26.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1) पुस्तक का नाम–संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी, लेखक का नाम– उमाशंकर शर्मा ऋषि, सम्पादक का नाम–उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी।

2) पुस्तक का नाम– वैदिक साहित्य, लेखक का नाम– कपिलदेव द्विवेदी, प्रकाशक का नाम– चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।